"*Swang*" The Folk Performance of Haryana

(An Analytical & Critical Study of the
Sociological and aesthetical aspacts.)

हरियाणा की लोक नाट्य विधा "स्वॉग" के समाजशास्त्रीय एवं कलात्मक पक्षों का विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन।

Dissertation Submitted to the Jawaharlal Nehru University in Partial Fulfillment of the requirement for the award of the Degree of Master of Philosophy

SATISH KUMAR

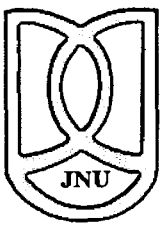

SCHOOL OF ARTS AND AESTHETICS
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI-110067
INDIA
2010

School of arts & aesthetics
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
New Delhi – 110067, India

Telephone: 26742976, 26704061
Telefax : 91-11-26742976

Prof. H.S.Shiva Prakash
Dean

CERTIFICATE

This is to certify that the dissertation titled "Analytical & Critical Study of the Sociology and aesthetical / artistical aspacts of "Swang" The Flok Performace of Haryana" Submitted by Satish Kumar at the School of Arts & Aesthetics, JNU, New Delhi-110067 for the award of the degree of Master of Philosophy in Theatre and Performance Studies. This is His own work and has not been submitted so far, in Part or in full, for any other degree or diploma of this or any other University or Institution.

We recommend that this dissertation be placed before the examiners for evaluation.

Dean

Supervisor

Prof. H. S. Shiva Prakash
Dean
School of Arts & Aesthetics
Jawaharlal Nehru University
New Delhi - 110067

DECLARATION

I declare, that the work done in this dissertation entitled "Analytical & Critical Study of the Sociological and aesthetical / artistical aspacts of "Swang" the folk Performance of Haryana" by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

Satish Kumar

Satish Kumar
(Research Scholar)

अपने तमाम चाहने वालों को सादर समर्पित

आभार

यह शोध एक छोटा सा प्रयास है, जिसके लिए मैं अपने शोध निर्देशक एवं मार्गदर्शक प्रो. एच. एस. शिवाप्रकाश का कृतज्ञ हूँ। भारतीय समाज एवं संस्कृति के बारे में उनकी गंभीर सोच एवं दृष्टिकोण सदैव मेरे लिए प्रेरणा दायक रहे और उनके मार्गदर्शन से मुझे लोकनाट्यों के विविध आयामों को समझने का अवसर मिला।

मैं अपने सहायक निर्देशक डा. सौम्यव्रत चौधरी का भी ऋणी रहूँगा, जिन्होने न सिर्फ अनुसंधान कार्य में सुझाव, टिप्पणी, एवं अमूल्य परामर्शों से मेरी सहायता की बल्कि अपने मित्रवत व्यवहार से समय–समय पर मार्गदर्शन के साथ–साथ मेरा उत्साहवर्धन भी किया। साथ ही डा. विष्णुप्रिया दत्त एवं डा. उर्मीमाला के सहयोग को भी भुलाया नहीं जा सकता।

मैं कला एवं सौन्दर्यशास्त्र में कार्यरत जगदीश विद्यार्थी जी एवं दिवान राम जी का भी बहुत आभारी हूँ, जिन्होने सदैव कार्यालय संबंधी कार्यों में मेरी सहायता की।

विश्वविद्यालय के अपने मित्रों राकेश, राजकुमार, अमरदीप, सरमिष्ठा, किरन, शौमिक, अवधेश, ब्रहम्प्रकाश एवं विश्वविद्यालय के अलावा डा. मनमोहन जी, गगनदीप, सुकृति, स्वीटी का भी बहुत आभारी हूँ। जिन्होने अपने अमूल्य समय का कुछ हिस्सा मेरी सहायता में लगाया। शायद इनकी सहायता के बिना यह शोध कार्य इस रूप में सम्पन्न न हो पाता। साथ ही परिवार का स्नेह, प्रेम एवं निरंतर प्रेरणा मुझमें ऊर्जा एवं स्फूर्ति का संचार करती रही, इसके लिए भी मैं तहेदिल से

शुक्रगुजार हूँ। इसके साथ– साथ मैं राष्ट्रिय नाट्य विद्यालय एवं संगीत नाटक अकादमी का भी आभारी हूँ, जिन्होने मेरे अनुसंधान कार्य के दौरान हर संभव सहयोग किया।

विषयानुक्रमणिका

आभार

परिचय 1–7

अध्यायः एक 8–36

❖ स्वॉग : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं समीक्षा

1.1 स्वॉग शब्द की व्युत्पत्ति 8–15

1.2 स्वॉग का उत्पत्ति काल 15–19

1.3 स्वॉग की उत्पत्ति के स्त्रोत 19–21

1.4 स्वॉग की नाट्य शैली एवं विशेषताए 21–23

1.5 स्वॉग का विकास 23–33

1.6 विषयवस्तु के आधार पर स्वॉगों का वर्गीकरण 33–36

अध्यायः दो 37 – 56

❖ स्वॉग में स्त्रियों की सहभागिता एवं दलितों की भूमिका

2.1 स्वॉग में स्त्रियों की सहभागिता का प्रश्न 37–47

2.2 स्वॉग के उद्‌भव में दलितों का भूमिका 47–56

अध्यायः तीन 57–97

❖ स्वॉग का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक पक्ष और स्वॉग का व्यावसायिकरण

3.1 स्वॉग का आर्थिक–सामाजिक पक्ष 57–60

3.2 स्वॉग में सांस्कृतिक – राजनीतिक गठजोड 60–65

3.3 स्वॉग और अश्लीलता 65–70

3.4 स्वॉग का व्यावसायिकरण और वर्तमान परिदृश्य 70–80

3.5 स्वॉग आलेख : 'कॅवर निहालदे' 81–91

छायाचित्र 92–97

निष्कर्ष 98–100

संदर्भ ग्रंथ सूची 101–106

परिचय

भारतीय रंगमंच के इतिहास में संस्कृत नाट्य परंपरा के गतिहीन होने के बाद 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पारसी नाटक आया, जिसने कुछ समय तक तो जनता का मनोरंजन किया किन्तु जल्दी ही उसके भी पैर उखड़ गए। हिन्दी नाटक भी आलेखों से प्रदर्शन तक का सफर कम ही तय कर पाया। आधुनिक रंगमच तो अभी प्रयोग–प्रयोग ही खेल रहा है कोई ठीक–ठीक शक्ल लेने में अभी असमर्थ है। ऐसी स्थिति में जनता का एवं आधुनिक रंगकर्मियों का ध्यान अगर कोई नाट्यरूप खींचते हैं तो वे हैं भारतीय लोकनाट्य। क्योंकि यही एक ऐसी नाट्य परंपरा है जो नाट्यशास्त्र से भी पहले की मानी जाती है और आज तक जीवित है, अपनी धूमिल अवस्था में ही सही। आधुनिक रंगमंच को जिंदा रखने के लिए कोई प्रेरणा स्त्रोत हो सकता है तो वह लोकनाट्यों के अलावा कुछ और हो ही नहीं सकता।

भारत के विभिन्न अंचलों में विभिन्न लोक नाट्य आज भी जनता के बीच खूब लोकप्रिय है। जैसे कश्मीर में 'भांडजश्न', हिमाचल प्रदेश में 'करियाला', असम में 'अंकिया नाट' बंगाल में 'जात्रा', उत्तर प्रदेश में 'नौटंकी', बिहार में 'बिदेसिया', मध्य प्रदेश में 'माच', गुजरात में 'भवाई', महाराष्ट्र में 'तमाशा', आन्ध्र प्रदेश में 'कुरवंजि', कर्नाटक में 'यक्षगान', तमिलनाडु में 'तेरूकुत्तु', केरल में 'कूडियाटटम' का जो स्थान है, हरियाणा में वही स्थान 'स्वॉग' का है। ऐसा नहीं है कि इन अंचलों में सिर्फ यही नाट्यरूप प्रचलित है, प्रत्येक अंचल में इनके अलावा भी कुछ नाट्य रूप हैं, जिनमें कुछ नाटकीय हैं तो कुछ संगीतमय। किन्तु यहाँ उन्हीं नाट्य रूपों का उल्लेख किया गया है जो अपने–अपने अंचल के प्रसिद्ध लोकनाट्य हैं। प्रस्तुत शोध हरियाणा प्रदेश के लोकनाट्य स्वॉग पर केन्द्रित है। जो स्वॉग के समाजशास्त्रीय एवं सौन्दर्यशास्त्रीय पक्षों का विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन का प्रयास मात्र है।

हरियाणा का लोक नाट्य 'स्वॉग' 'सांग' के नाम से भी जाना जाता है जो संस्कृत भाषा के स्वॉग शब्द का ही अपभ्रंश है। स्वॉग का उद्भव किशनलाल भाट' द्वारा माना

जाता है। भौतिकीय–परिवेश, जीवन–पद्धति, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक गतिविधियों ने मिलकर इस लोक नाट्य के उद्भव एवं विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्वॉग को प्रभावित करने वाले इन तमाम पक्षों को स्वॉग एवं स्वॉगी कलाकार किन परिस्थितियों में, किस प्रकार एवं किस दिशा में छूता रहा है। इन तमाम पक्षों पर विचार करना इस शोध का उददेश्य है। स्वॉग के उद्भव एवं विकास के साथ–साथ इसके पतन की ओर रूख पर भी चर्चा करना इस शोध का उददेश्य है। प्रस्तुत शोध में, स्वॉग के इतिहास पर उपलब्ध लिखित साधनों के समीक्षा द्वारा स्वॉग शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालने एवं स्वॉग के उद्भव काल के विषय में उपलब्ध साहित्य का विश्लेषण करते हुए एक समझ बनाने का प्रयास किया गया है। अतः विभिन्न विद्वानों के अलग–अलग विचारों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि स्वॉग का उद्भव काल 18वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है। स्वॉग के उद्भव से पहले समाज में सामूहिक मनोरंजन के कौन से साधन थे अथवा किन–किन परिस्थितियों से गुजरकर स्वॉग अपने अस्तित्व में आया।

स्वॉग के अस्तित्व में आने से पहले सामुहिक मनोरंजन के साधनों मुजरा एवं नकल को समाज में किस दृष्टि से देखा जाता था। तथाकथित सुधारवादी एवं सनातनी समाज में उनकी कितनी स्वीकार्यता थी एवं कितना विरोध था। उनके स्थानापन्न साधनों के अभाव में समाज किस प्रकार लाचार था कि मुजरे और नकल से घृणा करते हुए भी उनसे दूरी नहीं बना पा रहा था। तत्कालीन समाज मुजरे एवं नकल दोनों को ही प्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखता था, उसकी नज़र में दोनों ही अपमानजनक थे क्यों ? किसी सम्पन्न व्यक्ति के यहां वेश्याओं को निमंत्रित करना और उनके द्वारा श्रृंगारपरक कथाओं को संगीत एवं नृत्य के साथ प्रदर्शित करने से कथा, संगीत एवं नृत्य के योग से स्वॉग का स्वरूप सामने आना जिसमें पुरुष पात्र भी वेश्याएं ही होती थी। किन परिस्थितियों में 'किशनलाल भाट' ने स्त्रियों के स्थान पर पुरुषों के द्वारा स्वॉग की परंपरा आरम्भ की, वेश्याओं के स्वॉग में जहां पुरूष पात्र भी वेश्याएं ही होती थी, वहां 'किशनलाल भाट' द्वारा प्रचलित स्वॉग में स्त्री पात्र भी पुरुष ही होने लगे। स्वॉग, मुजरे और नकल के एक साथ

मनोरंजनात्मक स्थानापन्न साधन के रूप में कैसे उभरा एवं तत्कालीन समाज द्वारा मुजरे एवं नकल की तुलना में स्वॉग को समर्थन किन परिस्थितियों में दिया गया, जिसके चलते मुजरा एवं नकल धीरे–धीरे समाज से बहिष्कृत होते गए और स्वॉग की प्रतिष्ठा बढ़ती गई।

प्रारम्भ में स्वॉग का कलात्मक पक्ष एवं उसकी नाट्यशैली का क्या स्वरूप था और कालान्तर में कुछ स्वॉगी कलाकारों द्वारा स्वॉग में दिए योगदान से उसकी नाट्य शैली में क्या–क्या परिवर्तन आए और उसका विकास किस दिशा में हुआ। स्वांग की कथावस्तु के विभिन्न स्रोत हैं, उन स्रोतों के आधार पर स्वॉगों के वर्गीकरण द्वारा स्वॉग के परिप्रेक्ष्य को समझना अर्थात पौराणिक ऐतिहासिक, सामाजिक एवं शृंगारिक कथाओं के आधार पर स्वॉगों का वर्गीकरण, इन सभी पक्षों पर प्रथम अध्याय में विस्तार से चर्चा की गई है।

प्ररंम्भ से ही हमारे समाज में कला का क्षेत्र हो या फिर कोई अन्य क्षेत्र, जीवन के सभी पक्षों पर स्त्रियों के अस्तित्व एवं उनकी भागीदारी के विषय में एक नकारवाद की स्थिति रही है। शिक्षा के व्यापक प्रचार–प्रसार के बावजूद भी इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्वतंत्रता प्राप्ति के छः दशक बाद भी आम भारतीय के स्त्री संबंधित दृष्टिकोण में मूलभूत अन्तर नहीं आया है। आज भी समाज में पुरुषप्रधान दृष्टिकोण का प्रभुत्व जीवन के हर क्षेत्र में साफ नज़र आता है। गैरबराबरी के इस संबंध को रंगमंच के माध्यम से समझना और अधिक दिलचस्प है। रंगमंच में भी लोकनाट्य इस संबंध को समझने में अधिक कारगर है, और खासतौर सेस्वॉग। स्वॉग में स्त्री कलाकार के रूप में ही नहीं बल्कि दर्शक के रूप में भी न के बराबर है। स्त्रियों को स्वॉग के मंच पर न आने देने के पीछे मुख्य रूप से एक ही आधारभूत कारण है, वह यह कि पुरुषप्रधान मानसिकता नहीं चाहती कि स्त्रियों के रंगमंच में प्रवेश से उनका समाज में प्रभुत्व एवं रंगमंचीय आधिपत्य कम हो। किन्तु वे अपनी इस मानसिकता को सीधे–सीधे उजागर न करके कुछ निराधार एवं बिना सर–पैरों के तर्क पेश करते हैं, जिनकी कटू आलोचना प्रस्तुत शोध में की गई है। इसके अलावा यह भी बताने का प्रयास किया गया है कि पुरुषों के मुकाबले स्त्रियां प्रकृति के अधिक करीब हैं, इसलिए वे कला के भी अधिक करीब हैं। स्त्रियों में

प्रकृति के प्रति लगाव, संवेदनशीलता एवं आध्यात्मिक आदान–प्रदान पुरुषों के मुकाबले कहीं ज्यादा होता है। इसलिए स्त्रियां जीवन के भी अधिक करीब हैं। अर्थात स्त्रियों के बिना किसी भी लोकनाट्य या रंगमंच का विकास संभव नहीं है।

दूनिया भर में भारत देश ही है जहां प्रकृति की अमूल्य धरोहर इन्सान माँ की कोख से बाहर आते ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र बन जाता है, जबकि उसे सांसारिकता का पता तक नहीं होता। अतः यह स्वभाविक ही था कि आर्यों द्वारा प्रतिष्ठापित इस वर्णव्यवस्था से समाज का हर क्षेत्र प्रभावित होना ही था। इसलिए वह क्षेत्र कैसे अछूता रह सकता था जिसके उद्भव का श्रेय उन्हीं शूद्रों एवं दलितों को ही जाता है। जिनका तमाम भारतीय कलाओं को स्थापित करने में बहुत बड़ा योगदान रहा है। स्वॉग भी उन्हीं कलाओं में से एक है जिसके उद्भव एवं विकास में दलितों ने एक बहुत ही सकारात्मक भूमिका निभाई है। वह अलग बात है कि कालान्तर में सवर्णों ने उस पर आधिपत्य कर लिया। इस सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता कि जब–जब कला अपने चर्म पर पहुँची है, तब तब अभिजात वर्ग ने उस पर आधिपत्य जमाया है और जब जब कला ने पतन की तरफ रूख किया है, तब तब उन्हीं दबे–कुचले एवं दलित लोगों ने ही उसको उबारा है। इसलिए स्वॉग के विकास में दलितों के योगदान पर चर्चा करना इस शोध में बहुत ही जरूरी है, क्योंकि अब तक स्वॉग को इस दृष्टि से देखा ही नहीं गया।

स्वॉग का आर्थिक ढाँचा तो अन्य लोकनाट्यों से बिल्कुल ही भिन्न है। अन्य लोक नाट्य प्रस्तुतियां विभिन्न त्योहारों या किसी खास अवसर पर मनोरंजन के लिए की जाती रही है, किन्तु स्वॉग की प्रस्तुति कहीं न कहीं समाज के विकास में सहायक सिद्ध होती रही हैं जैसे – विद्यालय, अस्पताल, गलियां, कूऍं, तालाब, गऊशालाएं आदि बनवाने के लिए। अतः स्वॉग का आर्थिक एवं सामाजिक पक्ष इतना गुंथा हुआ है कि दोनों ही पक्षों पर चर्चा एक साथ ही की गई है। आर्थिक दृष्टि से समाज में स्वॉग की क्या स्थिति रही है और कलाकार की आर्थिक स्थिति ने स्वॉग के संगठनात्मक ढाँचे को किस प्रकार प्रभावित किया है। परिणाम स्वरूप स्वॉग की नाट्य शैली में क्या–क्या परिवर्तन आए हैं। यह सब जानने के लिए स्वॉग के आर्थिक पक्ष पर दृष्टिपात करना महत्वपूर्ण हो जाता है।

क्योंकि आर्थिक पक्ष किसी भी कला के लिए उतना ही महत्वपूर्ण है जितना किसी कला के लिए कलाकार का होना।

कला एवं संस्कृति का राजनीति से बड़ा गहरा रिश्ता होता है। कोई भी कला एवं संस्कृति राजनीति से अछूती नहीं रह सकती। अलग–अलग समय में विभिन्न विचारधाराएं अलग–अलग उद्देश्यों के साथ सांस्कृतिक माध्यमों का इस्तेमाल करती रही हैं। कला का काम है समाज को उसका वास्तविक चेहरा दिखाना और सकारात्मक दिशा प्रदान करना। समाज को सही दिशा देने के लिए राजनीति अगर सांस्कृतिक माध्यमों का इस्तेमाल करती है तो यह गलत नहीं है, किन्तु हमारे समाज में व्याप्त विभिन्न विचारधाराएं कलाओं को इस्तेमाल किस दिशा में एवं किस उद्देश्य से कर रही हैं, इसके प्रति कलाकार को सचेत होने की जरूरत है। क्योंकि हमारे समाज में कलाकार की आँखों पर कभी राष्ट्रीयता का, कभी धर्म का, तो कभी सांस्कृतिक विकास का चश्मा पहनाकर अपनी स्वार्थपूर्ती के लिए कला एवं कलाकार का इस्तेमाल किया जाता रहा है। स्वॉग का भी राजनीति के साथ कुछ ऐसा ही रिश्ता रहा है। समय–समय पर विभिन्न विचारधाराएं स्वॉग का अपने हक में इस्तेमाल करती रही हैं। अधिकतर स्वॉगी कलाकार निरक्षर होने के कारण इस सांस्कृतिक–राजनीतिक गठजोड़ को ठीक–ठीक परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पाते। वह कभी अपने आपको राष्ट्रभक्त, तो कभी धर्म रक्षक की भूमिका में देखकर गौरवान्वित महसूस करता रहता है। आम कलाकार जब अपने कला माध्यमों का इस्तेमाल सत्ता के खिलाफ एवं अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के तौर पर करे तो समझ में आता है। किन्तु जनसाधारण की कला का उन्हीं के ख़िलाफ इस्तेमाल सत्ताधारियों द्वारा किया जाए तो कूटनीति के अलावा इसे कोई और नाम नहीं दिया जा सकता।

स्वॉग पर नकल एवं मुजरे का प्रभाव बहुत अधिक था। क्योंकि अभद्र एवं द्विअर्थी संवाद जो स्वॉग ने नकल से ग्रहण किये अथवा श्रृंगारिक तत्व जो स्वॉग ने मुजरे से ग्रहण किये। इन्ही दोनो कारणों से स्वॉग को अश्लील नाट्य की श्रेणी में रख दिया गया। किन्तु इस तरह स्वॉग को अश्लील मान लेना न्यायसंगत तरीका नहीं है। असल में गौरतलब यह है कि नकल, मुजरे एवं स्वॉग को समाज के किस वर्ग ने अश्लील कहा है।

यह जानना भी अति आवश्यक है। अतः स्पष्ट है कि आर्य समाज के सनातनी एवं ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण के चलते ही स्वॉग को अश्लील करार दिया गया और समय–समय पर प्रस्ताव पारित करके स्वॉग प्रदर्शनों पर प्रतिबन्ध भी लगाया गया जहां तक अभद्र एवं द्विअर्थी संवादों का सवाल है, माना उनमें एक तरह की फूहड़ता है किन्तु उसको अगर हम इस नज़र से देखें कि हजारों सालों से लगातार कुचली जाती रही जनता और गुलामी का नारकीय जीवन जीने के लिए अभिशप्त, शासक वर्गों के दया–धर्म पर आश्रित जनता प्रारम्भ से ही देवपूजाओं, उत्सवों, त्योहारों और मेलों आदि के अवसरों पर अपने गीतों और नाट्यों के जरिये सामन्तों, जमींदारों पुरोहितों एवं साहूकारों आदि के जनविरोधी चरित्रों पर सीधे चोट करती रही है। इन्हीं अवसरों पर उनकी विरोध चेतना खुलकर प्रकट होती है। यह भारत ही नहीं, ऊँच–नीच के भेदभाव को मानने वाले तमाम देशों में शोषक वर्ग के प्रति शोषित वर्ग द्वारा अपनी अभिव्यक्ति को प्रकट करने का यही तरीका रहा है। इसलिए किसी ख़ास वर्ग की ताल में ताल मिलाकर हम स्वॉग को अश्लील नहीं कह सकते। उस समय आम जनता द्वारा विरोधस्वरूप दर्शायी जाने वाली फूहड़ता और कालान्तर में स्वॉग पर सामन्ती लोगों के हस्तक्षेप के बाद स्वॉग में परिवर्तित फूहड़ता को भी पहचानने की जरूरत है। अतः अश्लीलता समाज–सापेक्ष है, समाज को जब सही दिशा मिलेगी तो स्वॉग की शक्ल बदलते भी देर नहीं लगेगी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मनोरंजन के अन्य साधनों के बढ़ते प्रचार–प्रसार से दर्शक वर्ग की रूचियों में परिवर्तन ने स्वॉग के संगठनात्मक ढाँचे को किस प्रकार व्यावसायिकरण के माध्यमों से जोड़ा। स्वॉग के व्यावसायिकरण की भी अलग–अलग दौर में अलग–अलग शक्लें रही हैं। सामुदायिक मंडलियों से होते हुए व्यावसायिक मंडलियों की स्थापना एवं सिनेमा के साथ स्वॉग के आदान–प्रदान से सिनेमा का विकास एवं स्वॉग का पतन की तरफ रूख। आधुनिक रंगमंच में लोकनाट्यों का सकारात्मक–नकारात्मक इस्तेमाल और लोकनाट्यों के संरक्षण करने की योजना में नाट्यसंस्थानों एवं अकादमियों की पहुंच का दायरा। आधुनिक रंगमंच को सजाने–सवांरने के लिए लोकनाट्यों का फैशन

के तौर पर इस्तेमाल एवं उसे एक प्रदर्शनी का रूप देकर उसका अंधाधुन्ध व्यावसायिकरण। तमाम मुददों पर दृष्टिपात करना भी इस शोध का उददेश्य है।

हरियाणा में पिछले कई सालों से विश्वविद्यालयों के युवा उत्सवों में स्वॉग को स्थान दिया जाना और उसके सकारात्मक–नकारात्मक परिणामों सेस्वॉग की बदलती नाट्यशैली एवं कलाकार की बदलती आर्थिक स्थिति पर भी दृष्टिपात करना इस अनुसंधान कार्य का हिस्सा है। हरियाणा में आर्थिक–सामाजिक असमानता, राजनीतिक भ्रष्टाचार एवं सांस्कृतिक पिछड़ापन अन्य प्रदेशों से कुछ ज्यादा ही है। इसलिए कुछ गैर सरकारी एवं प्रगतिशील संगठन लम्बे समय से सांस्कृतिक आंदोलन के माध्यम से संघर्षरत हैं। चाहे स्त्री–पुरुष बराबरी का मामला हो, चाहे वंचित तबकों के अधिकारों का मामला हो, चाहे साम्प्रदायिक ताकतों के विरोध का मामला हो, चाहे वर्तमान दौर में सम्मान के नाम पर हो रही यूवाओं की हत्या का मामला हो, ये संगठन लगातार सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष कर रहे हैं। अतः इन संगठनों द्वारा भी सामाजिक बदलाव, सामाजिक हस्तक्षेप, एवं सामाजिक अन्तरविरोधों को बेनकाब करने के लिए स्वॉग का इस्तेमाल किया जा रहा है। जिससे स्वॉग की नाट्य शैली ने भी एक नया मोड़ लिया है। इन तमाम मुददों पर प्रस्तुत शोध में विस्तार से चर्चा करने का प्रयास किया गया है। आलेख के बिना स्वॉग की प्रस्तुति पर चर्चा करना अधूरा सा मालूम पड़ता है, इसलिए स्वॉग के एक आलेख 'कंवर निहालदे' को भी प्रस्तुत शोध में स्थान दिया गया है।

अध्यायः एक

'स्वॉग' शब्द की व्युत्पतिः– 'स्वॉग' शब्द की व्युत्पति पर विचार करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि लोक जीवन में प्रचलित 'सॉग' शब्द की व्युत्पति किस प्रकार हुई। क्योंकि हरियाणा का लोक नाट्य 'स्वॉग' लोक जीवन में 'सॉग' के नाम से प्रसिद्ध है। 'इस बात की पुष्टि करते हुए डा.इन्द्र शर्मा वारिज जी कहते है कि 'सॉग' शब्द 'स्वॉग' का तद्भव रूप है। वे सिद्ध करते है कि भाषा–विज्ञान के एक नियम के अनुसार उष्म और अन्तस्थ ध्वनियों के सहवास में रहने से कभी – कभी अन्तस्थ का लोप हो जाता है, तो कभी उष्म ध्वनियों का। 'स्वॉग' शब्द में 'स' उष्म ध्वनि है तथा 'व' अन्तस्थ। इस नियम के अनुसार कालान्तर में 'व' का लोप एवं 'स' ध्वनि में 'आ' का आगमन होने से 'सॉग' शब्द अस्तित्व में आया। 'स्वॉग' के 'स' में 'आ' का आगमन ह्रस्व से दीर्घ के नियम के अनुसार भी हो गया है।' इस प्रकार वे 'सॉग' शब्द की व्युत्पति संस्कृत के 'स्वॉग' शब्द से मानते है।[1] किन्तु यहॉ हमारा उद्देश्य 'सॉग' पर काम करना है न कि भाषा–विज्ञान पर, इसलिए भाषा–विज्ञान के जाल में न फंसकर 'सॉग' शब्द को 'स्वॉग' का अपभ्रंश कहने से भी काम चल सकता है।

अब सवाल उठता है कि 'स्वॉग' शब्द की व्युत्पति किस प्रकार हुई। इस संबंध में विद्वानों के काफी मतभेद रहे है। राजा राम शास्त्री कहते है कि 'स्वॉग' शब्द को बहुरूपिया अर्थ में प्रयुक्त समझा जाना चाहिए। जिसका कारण है लोक जीवन में प्रयुक्त वह उक्ति जिसके अनुरूप ऊटपटांग वेश देखकर किसी भी व्यक्ति को कहा जा सकता है कि "के 'सांग' भर राख्या सै" अर्थात "क्या 'सांग' सा बना रखा है"। इस प्रकार 'स्वॉग' रूपधारण करने के अर्थ में प्रयुक्त होते देखा जा सकता है। अतः 'स्वॉग' नाट्यशास्त्र के रूपक शब्द का पर्याय हो जाता है। रूपक में वेशभूषा एवं भाषा आदि का अनुकरण किया जाता है। उसी प्रकार 'स्वॉग' में भी वेशभूषा एवं भाषा आदि का पात्रों द्वारा अनुकरण

[1] इन्द्रशर्मा वारिज, लोकनाट्य स्वॉग, पृ. – 2

'स्वॉग' का प्रमुख विषय रहता है। किन्तु कुछ लोग संगीत से भी 'स्वॉग' शब्द की व्युत्पति सिद्ध करना चाहते है। उनके अनुसार 'स्वॉग' बिना संगीत के पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। अतः इसी से इसका नाम 'सॉग', और 'सॉग' से 'स्वॉग' बना। शायद यही कारण है कि इसे 'सांगीत' भी कहते है।

'स्वॉग' शब्द की व्युत्पति पर विद्वान डा. 'इन्द्र शर्मा वारिज' भी उपरलिखित विचारों से सहमति जताते हुए लिखते है कि लोक नाट्य 'स्वॉग' का संबंध अभिनय के लिए प्रयुक्त वेश भरने की प्रक्रिया से ही है। वेश भरने की प्रक्रिया सदैव दो कार्यों के लिए होती है:– मंच पर अभिनय करने के लिए और गुप्तचर का कार्य करने के लिए। कभी –कभी इसका तीसरा रूप देवी–देवताओं के पूजन के समय एवं विवाह आदि के अवसर पर भी देखा जा सकता है। अतः 'राजाराम शास्त्री' के अनुसार इसका शुद्ध नाम 'स्वॉग' है, जो रूपक का पर्यायवाची है, उसीका अपभ्रंश 'सॉग' है। अतः 'सांग' शब्द भी रूप धारण एवं अनुकरण अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। 'संगीत' शब्द निश्चय ही इन दोनों से भिन्न है।[2] डा. सोमनाथ गुप्त, डा. राजेन्द्र कृष्ण भनोत, डा. शंकरलाल यादव आदि विद्वान स्वॉग या सांगीत को संगीत का ही फूहड़ रूप मानते है। श्री रामनारायण अग्रवाल का मत है कि 'स्वॉग का एक नाट्यरूप उत्तर मध्यकाल में उत्तर भारत में 'ख्याल' के नाम से विकसित हुआ था और उसी ने पंजाब में 'ख्याल', राजस्थान में 'तुर्रा कलगी', मालवे में 'मांच' तथा ब्रज क्षेत्र में 'भगत' और हरियाणा तथा मेरठ में 'सांग' नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। सुरेश अवस्थी के इन शब्दों में भी उक्त मत का समर्थन होता है कि ये नाटक कई नामों से प्रसिद्ध है, जैसे नौटंकी, सांगीत, भगतनिहालदे, नवलदे और स्वॉग। ये सभी नाम लगभग समानार्थी है। स्वॉग कदाचित् सर्वाधिक प्राचीन नाम है। जगदीश चन्द्र माथुर इसका प्राचीनतम नाम 'संगीतक' मानते है। उनकी दृढ़ धारणा है कि 'संगीतक' ही बाद में 'सांगीत' और 'सांग' बन गया। अतः स्पष्ट है कि 'संगीतक' ही सबसे प्राचीन विधा है। इसीसे 'सांगीत' या 'सांग' परम्परा सम्बन्धित है। 'संगीतक' विधा का प्रचलन किसी न किसी रूप में वैदिक काल से पहले भी अवश्य रहा होगा। क्योंकि सामवेद के गीतो के वाद्यों के साथ साभिनय प्रस्तुतिकरण को ही संगीतक की संज्ञा मिली। निश्चय ही यह

[2] राजाराम शास्त्री, हरियाणा का लोकमंच, पृ. 1

विधा 'साम–गीतक' का दृश्य रूप है। जो कालांतर में संगीतक बन गई। सामवेद संगीत का आदि स्त्रोत माना जाता है।[3] डा. दुर्गा दीक्षित ने आलोच्य विधा के संबंध में लिखा है कि 'संगीतक एक स्वतंत्र कला रूप है। जहॉ संगीत और नाट्य का अलग–अलग अनुभव नहीं होता। नाट्यमय संगीत और संगीतमय नाट्य की एक साथ प्रतीति संगीतक में होती है। संगीतक में संगीत और नाटक के समन्वय की प्रक्रिया परस्पर पूरक एवं प्रेरक होती है, केवल दो कलाओ का योग्य मात्र नहीं।'[4] संगीतमूलक नाटक या नाटको में संगीत की रचना तथा लयबद्ध नाटको का प्रणयन आदि रूपों में वह परम्परा थी। वे भारत में संगीतक शैली को नया रूप बताते है। 'पतंजलि' के समय भी 'संगीतक' या सांग का प्रचलन था, इसका प्रमाण उनके ग्रंथ महाभाष्य में वर्णित तत्सम्बन्धी उल्लेख से मिलता है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन यह स्वीकार करते है कि यद्यपि अभिनीत होने वाले नाटको का पता पाली साहित्य नहीं चलता फिर भी अभिन्य और तमाशे तो होते ही थे। इन तमाशों अथवा सामुहिक मनोरंजन के साधनो को 'समज्या' भी कहा जाता था। 'समज्या' एक सामुहिक उत्सव होता था जिसमें लोग मांस खाते थे, शराब पीते थे, हंसते –खेलते थे, नाचते –गाते और अभिनय करते थे। वार्तिक और भाष्य में कहा गया है कि जिसमें जन–समुदाय इकट्ठा हो, वह उत्सव समज्या कहलाता था। जातको से विधित होता है कि समज्या वे विशेष प्रकार कि गोष्ठियां थी, जिनमे स्त्री–पुरूष, बाल–वृद्ध इकट्ठा होकर अनेक प्रकार के खेल तमाशे, नृत्य– संगीत आदि खेल या क्रीडाएं खेलते थे। इन्हे 'समाज' भी कहा जाता था।[5] अशोक के शिला लेखो में 'समाज' अच्छे एवं बुरे दो प्रकार के उत्सव बताए गए है। इनमें संगीत या संगीतक की विशेषताएं झलकती है क्योंकि आज कल भी गांव में जब इस प्रकार के प्रदर्शन होते है तो इस प्रकार की प्रवृत्तिया देखने में आती है। समज्या का दूसरा नाम समाज था जिससे कुप्रभावात्मक होने के कारण महाराजा अशोक ने बंद करवा दिया था। विसेंट स्मिथ के मतानुसार समाज एक नाट्य रूप ही था, जिसमें खूब नाच–रंग, गाना–बजाना होता था। एन. जी. मजुमदार ने सन्

---

[3] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 90
[4] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 91
[5] डा. वासुदेव शरण, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ. 160

1918 ई. के 'इण्डियन एन्टिक्वेरी' नामक पत्र में समाज का अर्थ 'प्रेक्षणक' या नाटक किया है। बाल्मिकि रामायण में भी समाज नाटक के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

नराजकं जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्द्धन्त राष्ट्रवर्द्धनाः।।[6]

'संगीतक' शब्द से लिखित रूप में हमारा प्रथम परिचय कालीदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में होता है। उसके बाद वररूचि कृत 'उभयाभिसारिका' नामक भाण में 'संगीतक' सम्बन्धी अनेक प्रसंग मिलते है। यह भाण पंचम शती की रचना चतुर्भाणी में संकलित है। सोमदेव की कथा सरित्सागर में भी 'संगीतक' का उल्लेख इस प्रकार हुआ है।

तस्य धस्ताच्च शुश्राव वीणावेणुरवान्वितम्।
उल्सस्द गीतमधुरं दिव्यं संगीतकध्वनिम्।। – आदिस्तरंग–17–107
नाट्याचार्येण सा नून नीता स हि न दृश्यते।
संगीतकगृहे प्रातस्तौ स्थितावि ति च श्रुतम्।। –आदिस्तरंग–52–284[7]

'संगीतक' का प्रचलन हर्ष के समय में भी था, क्योंकि बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में लिखा है कि 'संगीतक' मे वीण–वेणु, मृदंग आदि वाद्यों का प्रयोग होता था। ग्यारहवीं शती में यादव प्रकाश की वैजयन्ती में भी इस संगीत प्रधान विधा को 'संगीतक' ही कहा गया है। जिसे प्रेक्षणार्थ प्रस्तुत किया जाता था। 'प्रेक्षण' नाट्य प्रदर्शन का ही एक नाम है, जो रंग– प्रदर्शन या सांग तमाशा का पर्याय है। पन्द्रहवी शती में शुभंकर के ग्रंथ संगीत 'दामोदर' में भी संगीतक की एकमात्र व्याख्या मिलती है। जिस प्रदर्शन में तालवाद्यो के अनुसार नटियॉ गाती है और नृत्य प्रस्तुत करती है, उसे संगीतक कहा जाता है। विद्यापति ने राजा शिव सिंह के दरबार में अभिनीत 'गोरक्षविजय' नामक अपनी रचना का

[6] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 93
[7] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 94

संगीतक की संज्ञा दी है। इसमें संवाद संस्कृत और प्राकृत भाषा में है तथा गीत देशी भाषा में। सन्दर्भ इस प्रकार है– 'अलमतिविस्तरेण। ततो नंदीमाहूय संगीतकमवतारयामि'।[8]

किन्तु राजाराम शास्त्री के अनुसार स्वॉग में निहित एकमात्र गीत तत्व पर आधारित होने के कारण व्यापक अर्थ देने में असमर्थ है। जबकि 'स्वॉग' अथवा 'सांग' रूपक का पर्यायवाची होने से अनुकर्णात्मक होने से व्यापक अर्थ रखता है। जो विद्वान 'सांग' शब्द का संबंध 'सांगीत' से जोड़ते है वे भी इस व्याख्या से स्वतः परास्त हो जाते है क्योंकि लोक में 'सांग' अनुकरण एवं रूप धारण के अर्थ में प्रयुक्त होता है, 'सांगीत' अर्थ में नहीं।[9]

अतः अब तक की समीक्षा से स्पष्ट होता है कि 'संगीतक' सबसे पुरानी विधा है। 'संगीतक' से ही 'सांगीत' बना होगा। किन्तु सुरेश सलिल के अनुसार लोक व्यवहार में 'सांगीत' उस पुस्तक का द्योतक है, जिसमें 'स्वॉग' प्रकाशित है। जबकि उस पुस्तक को 'स्वॉग की पुस्तक' भी कहा जा सकता है। इन्दरमन के अखाड़े के प्रमुख 'स्वॉग' लेखक 'गोविन्दचमन' के स्वॉगों की सूची पर नजर दौड़ाते हुएः– 'राजामोर ध्वज का सांगीत', 'प्रहलाद भगत का सांगीत', 'ध्रुव भगत का सांगीत', 'द्रौपदी का सांगीत' आदि नामों में पहली बार सांगीत शब्द से परिचय होता है। बाद में नाट्य लेख के लिए यह सांगीत शब्द ऐसा रूढ़ हो गया कि न केवल 'इन्दरमन' के अखाड़े या 'हाथरस' की परम्परा में बल्कि कानपुर की नौटंकी में भी बिना किसी भेद–भाव के स्वीकार कर लिया गया। श्री कृष्ण पहलवान या त्रिमोहन लाल के जितने भी मुद्रित आलेख अब तक देखने में आए है उन्हें सांगीत ही कहा गया है। सांगीत शब्द कितना संक्रामक रहा होगा इसे हम भारतेन्दु युग के प्रतिनिधि साहित्यकार पं. प्रताप नारायण मिश्र की रचनाओं की सूची का अवलोकन करके भी समझ सकते है। मिश्र जी की कृतियों में एक का नाम है 'सांगीत शाकुन्तल'। अतः स्पष्ट है कि जब 'स्वॉग' मंच पर प्रस्तुत किया जाता है तो 'स्वॉग' एवं 'सांग'

---

[8] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 95
[9] राजाराम शास्त्री, हरियाणा का लोकमंच, पृ. 2

कहलाता है। अन्यथा कागजों के पन्नों पर छपे इसके रूप को प्रायः 'सांगीत' नाम दिया जाता है। [10]

'संगीतक' के साथ–साथ सिद्ध और नाथों के समय इसके अन्य नाम 'सांग' या 'स्वॉग' का भी प्रचलन हो गया था। इस तथ्य का उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस प्रकार किया है–

आलो डोंवि! तोए सम करिव म सांग।
निधिण कण्ह कपाली जोई लाग।।[11]

डा. श्याम परमार का कथन है कि गोरखनाथ के समय भी 'सांग' का प्रचलन था क्योंकि उनकी वाणी में इसका उल्लेख मिलता है–

अरे ससरो संवांगी जो संग भयो, पांची देवर त्हारी लार।
घट म ससे आ नन्दल मोहेली, ते कारण छोड्यो भरतार।[12]

सन्त कबीर के समय तो स्वॉग अत्यन्त आकर्षक रूप में होते थे। कथा–कीर्तन को छोड़कर लोग स्वॉग पर लट्टू रहते थे, तभी तो कबीर को झुंझला कर कहना पड़ा–

क कथा होय तहं स्त्रोता सोवै, वक्ता मुंड पचाया रे।
होय जहां कहीं स्वॉग तमाशा तनिक न नींद सताया रे।।[13]

ख स्वॉग जाति का पहिर कर , घर–घर मॉगी भीख।[14]

---

[10] सुरेश सलिल, कानपुरी नौटंकी, रंग प्रसंग, पृ. 94
[11] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 95
[12] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 95
[13] डा. दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास, पृ. 39
[14] डा. लक्ष्मण सिंह, हाथरस के हिन्दी सांगो का इतिहास और उनकी कला, पृ. 16

ग बाजीगर डंक बजाई। सब खलक तमाशे आई।
बजीगर स्वॉग सकेला। अपने रंग रवै अकेला।।[15]

जायसी के समय भी 'स्वॉग' कला से मनोविनोद होता था। 'स्वॉग' में प्रवीण वेश्याओं से गुप्तचर का काम भी लिया जाता था। चित्तौड़ भेजने के लिए 'सांग' करने में निपुण वेश्या का अलाउद्दीन द्वारा मांगा जाना इस तथ्य की पुष्टि करता है। देखिए– बादशाह दूतीखंड का यह उद्धरण[16]–

1 पातुरि एक हुती जोगि सवांगी। साहि अखारे हुति ओहि मांगी।। 660–5
2 भीख लेहि जोगिन फिर मांगू। कन्त न पाइअ किए सवांगू। 606–1

गुरू नानक तो समस्त संसार को ही स्वॉग मानते है, जिनके मंच का व्यवस्थापक स्वयं परमात्मा है– नटुए सांगु बणाइआ बाजी संसारा।[17]

रसखान ने स्वॉग का प्रयोग भेष भरना एवं मनोरंजन करवाना दोनों अर्थों में इस प्रकार किया है–

मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पिताम्बर लै लकुटी, बन गोधन ग्वारनि संग फिरौंगी।
भावतो जोहि मेरो रसखानि, सो तेरे–कहे सब स्वॉग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की, अधरान धरी अधरा न धरौंगी।[18]

---

[15] श्री रामनारायण अग्रवाल, सांगीत : एक लोक नाट्य परम्परा, 1976, पृ. 27
[16] वासुदेव शरण अग्रवाल, पद्मावत, द्वितीय संस्करण,
[17] डा. लक्ष्मण सिंह, हाथरस के हिन्दी स्वॉगों का इतिहास और उनकी कला, पृ. 16
[18] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 96

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'संगीतक', 'सांगीत', 'स्वॉग' एवं 'सांग' आदिकाल से लेकर भक्ति काल एवं रीतिकाल तक भारत में अभिनीत होते रहे हैं। और जो समानार्थी भी हैं। इनमें 'संगीतक' को सबसे पुरानी विधा कहा जा सकता हैं। कालांतर में 'संगीतक' से 'सांगीत', 'सांगीत' से 'स्वॉग' और 'स्वॉग' से 'सांग' आदि, अपभ्रंश रूप सामने आए होगे। किन्तु सुरेश सलिल के अनुसार जब 'स्वॉग' मंच पर प्रस्तुत किया जाता है तो 'स्वॉग' कहलाता हैं। अन्यथा कागजों के पन्नों पर छपे इसके रूप को प्रायः 'सांगीत' नाम दिया जाता हैं। किन्तु यह बात भी तर्क संगत नहीं जान पड़ती। क्योंकि 'सांगीत' शब्द 'संगीतक' का ही अपभ्रंश हैं। जो आलेखों के अस्तित्व में आने से भी पहले प्रचलित रहा है। उस समय इस कला का रूप आमतौर पर मौखिक ही होता था।

भारत में रंगमंच की कसौटी गलती से नाट्यशास्त्र हो गया है। इसी आधार पर राजा राम शास्त्री भी 'स्वॉग' को नाट्यशास्त्र के रूपक शब्द का पर्याय मानते है। जबकि इसमें कोई दो राय नहीं कि लोक नाट्यो का अस्तित्व नाट्यशास्त्र से भी पहले का रहा होगा। अतः स्वॉग को नाट्यशास्त्र के रूपक शब्द का पर्याय मानना, लोकनाट्यों में नाट्यशास्त्रिय तत्वों की खोज करके उन्हें शास्त्रीय श्रेणी में रखने वाली मानसिकता को ही प्रकट करता हैं। 'स्वॉग' शब्द की ऐतिहासिक यात्रा से यह भी स्पष्ट हैं कि लोक में 'सांग' सिर्फ अनुकरण एवं रूप धारण के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। संगीत से भी उसका गहरा रिश्ता होता हैं । श्री देवी शंकर प्रभाकर ने सही कहा है कि लोक मंच की यह परम्परा बहुत पुरानी हैं, जिसमें संगीत नाट्य और नृत्य तीनो का सुन्दर समन्वय हैं।

स्वॉग का उत्पत्ति कालः– 'स्वॉग' की प्राचीनता असंदिग्ध हैं, किन्तु फिर भी कुछ विद्वानों के कुछ अनुमान है। उनमें से एक हैं, डा. शंकर लाल यादव, जिनका मानना है कि 'स्वॉग' सन् 1685 में भी खेला जाता था, और उसे 'भक्तबाज' कहा जाता था। डा. शंकर लाल यादव, अपनी शोध पुस्तक 'हरियाणा का लोक साहित्य पृष्ठ–348 पर औरंगजेब के समकालीन कवि 'मौलाना गनिमत' की मसनवी 'नौरंगें इश्क' में वर्णित 26 पंक्तियों के आधार पर इस बात की पुष्टि करते है।

"आज शहर में अजब किस्म के लोग आए हैं, जो एक तर्जो–अंदाज के साथ नकलें करते है और नगमा और साज के साथ शोबदे (आश्चर्यजनक खेल) दिखातें है। नाज़ और कला में वे उस्ताद हैं, खुश आवाज है। हमारे इस्तलाह (भाषा) में उन्हें 'भगत बाज' कहते हैं। कभी मर्द, कभी औरत तो कभी बच्चे की नकल करतें है। कभी परेशान बाल सन्यासी बन जाते है। कभी मुस्लमान, कभी कश्मीरी तो कभी फिरंगी बन जाते है। कभी दहकानी (फूहड़) औरत और मर्द की नकल करते हैं। कभी दाड़ी मुंडाकर गिब्र की सूरत नजर आते है। कभी मुगलों की शक्ल बना लेते है, कभी गुलाम बन जाते है। कभी जच्चा का हुलिया बना लेते है, जिसका बच्चा दाई की गोद में रोता है। कभी देव बन जाते है तो कभी परी। गरज–हरकाम का जलवा दिखाते है और हर तरह के इश्वा जमाने से काम करते है।"[19]

वे पंक्ति 1 से 8 पर लिखते हैं कि मसनवि से स्पष्ट सूचना मिलती है कि ये 'भगतबाज' आज की नौटंकी मंडलियों अथवा 'स्वॉग' मंडलियों की भांति अपनी कला का प्रदशर्न एक स्थान से दूसरे स्थान पर करते फिरते थे।

उपरोक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुॅचते हैं कि लोक रंगमंच का एक रूप 16वीं शती के आरम्भ में (बल्लभायार्य के काल में) रास लीला और राम लीला के रूप में प्रकट हुआ, और दूसरा रूप नौटंकी, स्वॉग, भगत, सांगीत अथवा नकल का रहा जो 17वीं शती के मध्य में जनता के बीच अच्छी तरह प्रचलित रहा। दूसरी तरफ 'कबीर दास' जी के एक दोहे से भी इस बात का संकेत मिलता है कि 16वीं शती और उससे पहले से ही स्वॉग शब्द का प्रयोग किसी न किसी प्रकार के अभिनय के लिए किया जाता रहा है।

"कथा होय तहां स्त्रोता सोवे, वक्ता मूंड पचाया रे। "
होय जहां कहीं स्वॉग तमाशा, तनिक न नींद सताया रे।।[20]

किन्तु 'राजा राम शास्त्री' इसकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि 'डा. शंकर लाल यादव' को यह भ्रम नकल और 'स्वॉग' में भिन्नता न कर पाने के कारण संभव हुआ है क्योंकि व

[19] डा. राजाराम शास्त्री, हरियाणा का लोकमंच, पृ. 96
[20] डा. इन्द्रशर्मा वारिज, लोक नाट्य स्वॉग, पृ. 2

'नकल' और 'स्वॉग' में यह निश्चय अन्त तक नहीं कर पाए कि ये शब्द परस्पर प्रायः हैं अथवा भिन्न। जैसे कि वे अपने शोध प्रबंध के पृष्ठ –382–83 में लिखते है कि इस प्रदर्शन का नाम 'नकल' दे तो अनुचित न होगा। यह वर्तमान 'स्वॉग' या 'नौटंकी' का पूर्व रूप या पर्याय। इसके अतिरिक्त 'भगत' शब्द को स्पष्ट रूप से 'स्वॉग' का पर्यायवाची माना है। अतः 'राजाराम शास्त्री' के अनुसार 'नौरंगे इश्क' में वर्णित 'भगतबाज' का स्वरूप नक्कालों का चित्रण है। जो अपने प्रदर्शनों में थोड़े–थोड़े समय के उपरान्त विषय बदलते रहते थे। यह वर्णन 'नौटंकी' अथवा 'स्वॉग' का चित्रण नहीं करता है। अतः वे 'स्वॉग' का विधिवत् आरम्भ सन् 1730 के लगभग 'किशन लाल भाट' द्वारा मानते है। इससे पहले यदा–कदा वेश्याओं द्वारा स्वॉग का प्रदर्शन अवश्य किया जाता था, परन्तु सबल परंपरा के रूप में वह सामने नहीं आया था।

दूसरी तरफ 'सुरेश सलिल' लोक नाट्य शैली के जन्म को ठीक–ठीक परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए शुरूआत उस आदि स्त्रोत से करना उचित समझते हैं, जो स्वयं तो प्रवहमान नहीं रह पाया। किन्तु वहां से फूट कर अनेक धाराएं अलग–अलग दिशाओं में गई और स्वयं में एक परंपरा बन गई। वह आदिस्त्रोत या पंजाब का अंबाला जनपद जो अब हरियाणा राज्य के अन्तर्गत आता है। आज से करीबन सवा सौ साल पहले वहॉ तैनात 'कैप्टन आर. सी. टैम्पिल' नाम के एक अंग्रेज अधिकारी ने कई खंडो में संयोजित 'दि लीजेंडस आफ दी पंजाब' नाम से एक बहुमूल्य संदर्भ ग्रंथ प्रकाशित किया था। उस ग्रंथ में वैसे तो मेरठ क्षेत्र तक के स्वॉगों को संकलित किया गया है, किन्तु ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से उस ग्रंथ की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उसमें उस अंचल के लोक नाट्यकार 'बन्सीलाल' के भी तीन स्वॉग संकलित है। जिनमें चौबोल शैली के स्वॉगों का उपलब्ध आदि रूप माना जाता है। वे स्वॉग थेः– 1. गुरू गंग्गा 2. राजा गोपीचन्द 3. राजा नल।

'दि लीजेंडस आफ दि पंजाब' का प्रकाशन 1833 ई. में हुआ और जिस तरह के विशद फिल्ड वर्क स्वभाव का वह काम है। उसके मद्देनजर उसके सामग्री–संकलन, संपादन और मुद्रण में कई दशकों का समय लगा होगा। 'कैप्टन टैम्पिल' ने स्वयं स्वीकार

किया है कि 'बन्सीलाल' के ये स्वॉग हर साल होली के मौके पर जगाधरी में खेले जाते थे। वहीं उन्होंने उन स्वॉगों को देखा था और उस समय भी वे काफी पुराने माने जाते थे। इस कथन की रोशनी में सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'बन्सी लाल' के इन स्वॉगों का रचनाकाल 19वीं शती के पहले दशक के आस पास का समय रहा होगा। इस प्रकार निश्चय ही 'बन्सी लाल' के ये 'स्वॉग' हिन्दी प्रदेश में आगामी दो सौ सालों के दौरान विकसित हुए विविध लोक नाट्य धाराओं के बीज रूप बन जाते है।[21]

अतः 'कैप्टन टैम्पिल' का यह शोध भी 'राजाराम शास्त्री' द्वारा किए गए 'स्वॉग' के उत्पति काल के अनुमान को कुछ हद तक सही साबित करता है। 'कैप्टन टैम्पिल' स्वॉग का रचना काल 19वीं शती का पहला दशक मानते हैं तो 'राजा राम शास्त्री' के अनुसार स्वॉग का उत्पति काल 1730 ई. है। दूसरी तरफ कपिला वातस्यायन ने स्वॉग का उत्पत्ति काल 18 वीं शती का अन्तिम चरण एवं 19वीं शती का प्रारम्भ माना है। इस प्रकार मोटे रूप में हम कह सकते है कि 'स्वॉग' का उत्पत्ति काल 18 वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।

डॉ. ओझा स्वॉग की उत्पत्ति सर्वप्रथम हरियाणा में हुई मानते हैं, उनका कहना है कि 'मध्यकाल में सादुल्ला नामक एक प्रसिद्ध लोक कवि हरियाणा प्रान्त में उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार बारहवीं–तेरहवीं शताब्दी में अब्दुल रहमान कवि ने अपभ्रंश में 'सन्देह रासक' की रचना की, उस प्रकार सादुल्ला नामक कवि ने अनेक लोकगीतों और लोक–नाटकों की रचना की। उनके लोकगीत और लोक नाटकों की परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती गई।[22]

इनके मतानुसार हिन्दी भाषा में 'स्वॉग' से प्राचीनतर नाटक नहीं हैं। अतः उनका यह कहना बिल्कुल सही है कि हिन्दी नाटक की उत्पत्ति और विकास का विवरण स्वॉग परम्परा के अनुसंधान बिना अपूर्ण ही माना जाएगा।

---

[21] सुरेश सलिल, कानपुरी नौटंकी, रंगप्रसंग, पृ. 91

[22] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 98

पं. रामगरीब चौंबे के कथानानुसार 'सांग' की उत्पत्ति सब से पहले सहारनपुर में हुई। उनका कहना है कि अम्बाराम नामक एक गुजराती ब्राह्मण ने सन् 1819 ई. में इस कला का प्रणयन एवं प्रदर्शन किया। इस प्रसंग से भी 'सांग' का सृजन एवं मंचन सर्वप्रथम हरियाणा में ही हुआ सिद्ध होता है क्योंकि डा. देवेन्द्र दीपक, श्री देवीशंकर प्रभाकर एवं हरियाणा के भूतपूर्व शिक्षामंत्री चौ. माडू सिंह आदि विद्वानों के मतानुसार सहारनपुर हरियाणा का ही अभिन्नांग रहा है।[23]

स्वॉग की उत्पति के स्त्रोतः– मनोरंजन मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। जो व्यक्ति जहॉ जिस परिस्थिति में रहता हैं, वहॉ अपनी परिस्थितियों के अनुसार मनोरंजन के साधन भी जुटा लेता है। समाज में उन मनोरंजनात्मक साधनों का प्रर्दशन सामूहिक कर्मकांडों, विवाहों एवं उत्सवों आदि के अवसरों पर किया जाता है। अतः स्वॉग के अस्तित्व में आने से पहले 'राजा राम शास्त्री' बताते हैं कि सामूहिक मनोरंजन के प्रायः दो ही साधन थे।

1. मुजरा 2. नकल।[24]

सम्पन्न परिवारों में विवाह आदि के अवसर पर 'मुजरा' करवाना उस व्यक्ति की सम्पन्नता एवं प्रतिष्ठा का प्रतीक था। जनसाधारण में नककालों से उसी प्रतिष्ठा की प्राप्ति कर ली जाती थी। अधिक विशिष्ठ परिस्थितियों में कुछ अधिक सम्पन्न परिवारों में 'मुजरा' एवं 'नकल' दोनों का प्रबन्ध एक साथ भी कर लिया जाता था। यह उस व्यक्ति की विशिष्ठ सामाजिक स्थिति एवं सम्पन्नता का परिचायक था। किन्तु मुजरे के लिए जब वेश्याओं को आमन्त्रित किया जाता था, तो समाज का तथाकथित सुधारवादी वर्ग इसका विरोध करता था। वह इसे मनोरंजन नहीं बल्कि मनोरंजन के नाम पर दुराचार का विस्तार समझता था। किन्तु ऐसी परिस्थितियों में भी 'मुजरा', 'नकल' की तुलना में अधिक प्रिय था। क्योंकि नक्कलों द्वारा की जाने वाली नकलों का विषय 'नकल' की अप्रितिष्ठा का मूल कारण बन गया था। क्योंकि नकल का तात्पर्य ले लिया गया था इस प्रकार का अभिनय और कथोपकथन जिसमें श्रोता विभोर होकर हंसते–हसंते लोट–पोट हो जाएं। ऐसे में नक्कलों

[23] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 102
[24] डा. राजाराम शास्त्री, हरियाणा का लोकमंच, पृ. 3

का प्रिय विषय रहता था– 'कंजूस लोग' एवं औरत की बेवफाई आदि। इसके अतिरिक्त 'वे जिस थाली में खाते थे, उसी में छेद करते थे'। जो व्यक्ति उन्हें अपने यहॉ निमन्त्रित करता था, वे उसकी भी खिल्ली उड़ाए बिना न रहते । यही कारण था कि उच्च वर्ग नक्कालों का विरोधी था।

मगर सच्चाई तो यह थी तत्कालीन समाज न तो वेश्याओं को प्रतिष्ठा की दृष्टि में दोनो ही अपमानजनक थे। किन्तु इनके स्थानापन्न साधन के आभाव में वे लाचार थे। दोनो से घृणा करते हुए भी इनसे दूरी नही बना पा रहे थे। जब कोई सम्पन्न व्यक्ति कई वेश्याओं को एक साथ आमन्त्रित करता था, तो वे प्रायः मुजरे के स्थान पर श्रृंगार परक कथा को संगीत और नृत्य के साथ प्रदर्शित करती थी। कथा, संगीत एवं नृत्य के योग से जो स्वरूप सामने आया उसे स्वॉग के नाम से जाना गया। जिसमें पुरूष पात्र भी वेश्याएं ही होती थे। क्योंकि वे तभी सम्भव थे जब वेश्याओं के पूरे समूह को आमन्त्रित करने का बोझ सहन करने में समाज के लोग समर्थ हो, और ऐसा हमेशा सम्भव न था। ऐसी स्थिति में 'किशनलाल भाट' ने स्त्रियों के स्थान पर पुरूषों के द्वारा स्वॉग की परंपरा आरम्भ की। वेश्याओं के 'स्वॉग' में जहॉ पुरूष पात्र भी वेश्याएं ही होती थी, वहॉ 'किशनलाल भाट' द्वारा प्रचलित 'स्वॉग' परंपरा में स्त्री पात्र भी पुरूष ही होते थे। 'स्वॉग' की एक विशेषता यह थी कि वह 'मुजरे' एवं 'नकल' का एक साथ मनोरंजनात्मक स्थानापन्न साधन था। जहॉ वेश्याएं केवल 'मुजरा' करती थी, नक्काल केवल 'नकल' करते थे। वहॉ 'स्वॉग' में एक संबंध कथानक था। जिसमें नृत्य, संगीत एवं विदुषक के रूप में एक नक्काल भी था। अतः उन तथाकथित सुधारवादी लोगों द्वारा भी 'मुजरे' और 'नकलों' की अपेक्षा 'स्वॉग' को समर्थन देना स्वभाविक था। उनकी दृष्टि में जहॉ मुजरे से भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है, वहॉ 'स्वॉग' पुरूषों द्वारा किये जाने के कारण उनकी अपेक्षा अधिक उत्तम था। यही कारण था कि 'मुजरा' एवं 'नकल' धीरे–धीरे समाज से बहिष्कृत होते गए और 'स्वॉग' की प्रतिष्ठा बढ़ती गई।

'राजाराम शास्त्री' के इन विचारों को परिकल्पना कहें या यथार्त, इस बात का निर्णय कर पाना तो मुश्किल है। क्योंकि 'स्वॉग' के अस्तित्व में आने की इस प्रक्रिया पर

शायद ही किसी और विद्वान ने लिखा हो। न ही वर्तमान समय मे उस दौर के स्वॉगी कलाकार या दर्शक ही मौजूद हैं, जिनसे साक्षात्कार करके किसी ठोस निष्कर्ष तक पहुंच सके। अतः ठोस प्रमाणों के अभाव में 'राजाराम शास्त्री' के इन विचारों को मान लेने के अलावा हमारे पास कोई चारा नहीं । यदि इस विचार की आलोचना में हम अन्य कोई परिकल्पना इसके सामान्तर स्थापित करना भी चाहें तो, उससे भी किसी निष्कर्ष पर पहुचना सम्भव नहीं। क्योंकि यहां हमारा उद्देश्य यह नहीं है कि 'स्वॉग' से पहले क्या था और क्या नहीं था, बल्कि हमारा उद्देश्य है 'स्वॉग' की उस विकास यात्रा पर दृष्टिपात करना जो इस नाट्यरूप को समझने में सहायक सिद्ध हो।

TH-19172

'स्वॉग' की नाट्यशैली एवं विशेषताएंः—'स्वॉग' की प्रस्तुति में सर्वप्रथम सूत्रधार द्वारा अथवा 'स्वॉग' प्रमुख द्वारा 'खंब थापन' या 'स्तम्भ स्थापना' की जाती है, जो एक महत्वपूर्ण प्रारम्भिक अनुष्ठान है, जिसमें स्थाई देवी–देवताओं की वंदना या गुरू की वंदना की जाती है। 'स्वॉग' का प्रारूप नाट्यधर्मी नाटकों सा सुगठित नहीं होता, किन्तु कथा में तीखे व्यंगयों की संयोजना अवश्य होती है।। तीखे एवं चुटिले संवाद और प्रांजल गायन शैली के मेल से एक अनोखा रूप सामने आता है। प्रारम्भ में 'स्वॉग' की परंपरा मौखिक ही रही है। लिखित स्वॉगों की परंपरा नाट्यधर्मी रचनाओं के प्रभाव से आरम्भ हुई। प्रारम्भ में केवल पद् का ही विधान रहता था किन्तु धीरे–धीरे गद् का भी समावेशन होने लगा।

'स्वॉग' के कथानकों में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, श्रृंगारिक एवं काल्पनिक कथाओं का विधान होता है। अभिनेताओं की संख्या तीन या चार की ही होती है। प्रमुख अभिनेता एक ही होता है, जो सूत्रधार के साथ–साथ कथा के मुख्य पात्र की भूमिका भी निभाता है। बाकी अभिनेता उसके सहयोगी मात्र होते है। एक अभिनता अनेक भूमिकाएं निभा सकता है। महिला पात्रों की भूमिका भी यूवा अभिनेताओं को ही निभानी पड़ती है। संकट की स्थिति में हास्य अभिनेता को मंच पर लाया जाता है। जिसे 'नकली' के नाम से जाना जाता है। गायन में निश्चित पद्धति का अनुसरण किया जाता है। अलग–अलग

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय पुस्तकालय

स्थिति में अलग– अलग धुनों का प्रयोग किया जाता है, ये धुनें 'रंगत' कहलाती है। अधिकांश कथा संगीतमय होती है। प्रत्येक पात्र अपने संवाद को अलग–अलग लोक धुनों में प्रस्तुत करता है और मंच के मध्य में जाकर बैठ जाता है। जहॉ पहले से पूरी मंडली बैठी होती है। वाद्य यंत्र बजाने वाले भी एसी मंडली में बैठते हैं, किन्तु आरम्भ में ऐसा नहीं था। वादक अभिनेतओं के पीछे–पीछे घूम कर वाद्य् बजाते थे। वाद्य यंत्रों में मुख्य रूप से हारमोनियम, बैन्जु, सारंगी, ढोलक, नक्कारा एवं घड़वा आदि इस्तेमाल किये जाते है। 'स्वॉग' में मंच विद्यान बहुत ही आडम्बर रहित होता है। जिसके अर्न्तगत मंच साधारणतः 3–4 फुट ऊॅचा होता है, जो 4–5 तख्त जोड़कर बना लिया जाता है। तख्तों का प्रबन्ध न होने पर यह 3–4 बैलगाड़ियों एवं बुग्गियों को जोड़कर भी बना लिया जाता है। आरम्भ में तो जमीन पर एक खरड़ (मोटा कपड़ा) बिछाने से भी काम चला लिया जाता था।

दर्शकों के बैठने की व्यवस्था मंच के चारों ओर होती है।'स्वॉग' में तड़क–भड़क का रूप अन्य लोकनाट्यों की अपेक्षा अत्याधिक कम होता है। अभिनेताओं की वेशभूषा बहुत ही साधारण होती है जैसेः– धोती–कुर्ता, घाघरा एवं कुर्ता–सलवार और अंगरखा आदि। इसी सीमित परिधान के सहारे राजा से लेकर भिखारी तक का रूप धारण कर लिया जाता है। रूप सज्जा के लिए– कुकुम, खड़िया, गेरू तथा काजल ही प्रयाप्त होते है।

'स्वॉग' में कथानक एवं चरित्र के विकास की बहुत ही कम सम्भावनाएं होती है, आरम्भ से लेकर अन्त तक एक चरित्र एक ही अंदाज में रहता है। 'स्वॉग' में प्रवेश एवं निकासी की अवधारण भी प्रचलित नहीं है। पूरी मंडली पहले से ही मंच पर बैठ जाती है और अन्त तक मंच पर मौजूद रहती है। 'स्वॉग' में किसी भी प्रकार की दृश्यावली का विधान नहीं होता। अभिनय एवं दृश्यों का बहुत ही अभाव होता है और दृश्य परिवर्तन की तो आवश्यकता ही नहीं रहती।

सूत्रधार गायिकी के अन्दाज में कथा कहता है और पूरी मंडली उसका अनुसरण करती है। इसी अनुसरण करने की शैली को 'टेक' कहते है। 'स्वॉग' में वार्ता एवं संगीतात्मक कथोपकथन प्रायः दो ही मुख्य अंग होते है। एक प्रसंग को देसरे प्रसंग से जोड़ने के लिए वार्ता का प्रयोग किया जाता है। वार्ता प्रायः गद्य मे ही होती है, कभी–कभी पद्य में भी देखने को मिलती है। नृत्य पूरे स्वॉग का विशिष्ट अंग है, जो प्रायः स्त्री वेशधारी पात्रों द्वारा ही किया जाता है। पात्रों को चारो तरफ घूम–घूम कर नृत्य करने की प्रक्रिया में एक ओर से दूसरी ओर जाने के लिए नृत्य बहुत ही सहायक सिद्ध होता है। छन्दों में चौबोला, काफिया एवं रागनियों का प्रयोग किया जाता है। प्रकाश व्यवस्था के लिए आरम्भ में मशालों का इस्तेमाल होता था, गैस के विकास के बाद कुछ गैस सिलेन्डरों का भी इस्तेमाल किया जाने लगा। किन्तु बिजली के विकास के बाद मंच पर एक या दो बल्ब लगाकर काम चला लिया जाता है। किन्तु गैस सिलेन्डर का प्रबन्ध फिर भी करना पड़ता है। सूत्रधार द्वारा कथा के विकास के साथ–साथ मंच के मध्य में बैठी मंडली के बीच ब्रेख्त के 'स्मोकर्स थियेटर' की भांति धुम्रपान भी चलता रहता है।

स्वॉग का विकासः– इस अढ़ाई सौ वर्षों के काल को लोक नाट्य मृमज्ञ 'राजाराम शास्त्री' ने सात भागों में विभाजित किया है। यह काल–विभाजन उन प्रमुख सांगियों के नाम पर किया गया है, जिन्होंने स्वॉग के रूप – परिवर्तन एवं विकास में किसी प्रकार की नवीनता को जन्म दिया। जिसका आगे चलकर अन्य सांगियों ने भी अनुकरण किया।

काल विभाजनः–

1. किशनलाल भाट से पूर्वकालीन युग (सन् 1730 से पहले)
2. किशनलाल भाट युग (सन् 1730 से 1900 तक)
3. दीपचन्द युग (सन् 1900 से 1920 तक)
4. हरदेवा युग (सन् 1902 से 1923 तक)

5. लख्मीचन्द युग (सन् 1923 से 1944 तक)

6. मांगेराम युग (सन् 1944 से 1970 तक)

7. आधुनिक युग (सन् 1950 से अब तक)

यह काल विभाजन इस आधार पर किया गया है कि अपने काल में वह विधा मंच पर छाई रही। उसके बढ़ते प्रचार के साथ पुरानी विधा धीरे–धीरे लोप होती गई, और आने वाली नवीन विधा ने उस युग की विधा को सर्वथा स्वीकार कर उसमें किसी नवीन विधा का समावेश किया। इस प्रकार भविष्य में नवीन विधा का धीरे–धीरे प्रचार हुआ और वह मंच अपने पैर जमाती चली गई।

1. **किशनलाल भाट से पूर्वकालीन युगः–** जैसे कि पहले चर्चा कर चुके हैं कि इससक पहले पुरूष 'स्वॉग' नहीं करते थे, बल्कि वेश्याएं 'स्वॉग' करती थी। हरियाणा में इस प्रकार के 'स्वॉग' के लिए 'किलायत' की वेश्याओं का नाम सबसे पहले आता है। इस प्रकार किशनलाल भाट ने पुरूषों द्वारा 'स्वॉग' किए जाने की परंपरा को जन्म दिया। 'स्वॉग' के आरम्भ हो जाने पर भी वेश्याओं द्वारा 'स्वॉग' की परंपरा प्रचलित रही, जो धीरे–धीरे 'स्वॉग' के उद्‌भव के साथ समाप्त होती गई।

2. **किशनलाल भाट युगः–** माना जाता है कि किशनलाल भाट ने सन् 1730 के लगभग अपनी मंडली की स्थापना कर विधिवत 'स्वॉग' की नींव रखी। उस समय उनका सामना एक ओर जहॉ वेश्याओं के मुजरे से था, वहॉ दूसरी ओर नक्कालों की सबल परंपरा से था। ऐसी स्थिति में उन्होंने नृत्य एवं 'नकल' के कथानक का पुर देकर उसे एक नई दिशा प्रदान की इस प्रकार 'स्वॉग' में जहां एक पूर्ण कथानक का समावेश रहता, वही संगीत के साथ नृत्य भी रहता। एक विदुषक को अपने कथानक में स्थान प्रदान कर उन्होने 'नकल' को भी इसमें सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार 'स्वॉग' उस समय की दोनों सबल विधाओं को अपने आंचल में समेटे लोक नाट्य के रूप में जनता के

सामने आया। किशनलाल भाट द्वारा आरम्भ की गई परंपरा में प्रायः एक ही छंद प्रधान था 'चौबोला'। चौबोला की लय सुरीली होने के साथ–साथ बहुत ऊँचे स्पर से ही गाई जाती है। 'चौबोला' का गाना प्रत्येक गायक के बस की बात नहीं।

'स्वॉग' के आरम्भ होने से पहले 'गंगा धमोड़' नचाने की परंपरा भी किशनलाल भाट द्वारा ही आरम्भ हुई। इसमें नर्तक कागज और बांस की खपचियों से बने रंग–बिरंगे घोड़े के बीच खड़ा होकर इस प्रकार नृत्य करता था, जैसे कोई सवार घोड़े पर सवारी गाठे हो, और घोड़ा नृत्य कर रहा हो। गुंगा धमोड़ के साथ बजते ढोल की थाप इस बात की प्रतीक थी कि अब 'स्वॉग' आरम्भ होने वाला है। इस प्रकार गुंगा धमोड़ दर्शकों को एकत्र करने का एक साधन मात्र था। दर्शकों के एकत्र होने पर ही मुख्य 'स्वॉग' आरम्भ होता था।

3. दीपचन्द युगः– किशनलाल भाट द्वारा आरम्भ की गई। 'स्वॉग' की विधा लगभग एक सौ सत्तर वर्ष तक बिना किसी परिवर्तन के चलती रही। फिर बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में एक ओर प्रतिभा ने स्वॉग के क्षेत्र में पदर्पण किया, और तब किशन लाल भाट की कुछ पद्धतियों में परिवर्तन आया। वह विशिष्ट प्रतिभा थी 'श्री दीप चन्द' जो बाद में राय बहादुर दीप चन्द हुए। दीप चन्द का जन्म 'खांडा खेड़ी' में हुआ। वे संस्कृत के विद्वान थे। 'स्वॉग' मंडली बनाने का विचार उन्हें तब आया जब वे कुरूक्षेत्र में किसी यजमान के यहॉ श्री मद्भागवत् का सप्ताह कर रहे थे। मेला लगा था और लोगों की भीड़ बैठी आनन्द लूट रही थी कि निकट ही कहीं से सारंगी और ढोलक की आवाज सुनाई पड़ी और लोग एक–एक कर उठने लगे। देखते ही देखते पण्डाल खाली हो गया। दीपचन्द एवं यजमान के अलावा पण्डाल में कोई न था। पण्डित जी को इस घटना से आघात पहुॅचा। उन्होनें अपना पोथीपत्रा सम्भालना शुरू किया तो यजमान ने रूकने की प्रार्थना की किन्तु पण्डित जी ने कहा – भैयाः अब तो हम भी वहीं जाएंगे, जहॉ जनता गई। घर जाते ही 'स्वॉग' मंडली तैयार कर कार्य क्षेत्र में कूद पड़े।' उन्होनें किशन लाल भाट द्वारा आरम्भ की पद्धति में कुछ फेरबदल कर एक नया रूप दिया। उन्होंने अनुभव

किया कि साजिन्दों का पात्रों के पीछे–पीछे घूम कर साज बजाना न केवल असुविधाजनक है, बल्कि इस विधातक भी है। अतः उन्होनें साजिन्दों के लिए मंच पर स्थान निश्चित किया और तब से साजिन्दे एक स्थान पर बैठ कर संगत करने लगे। पहले जहॉ सारंगी एवं ढोलक होते थे, वहॉ दीपचन्द ने ढोलक के साथ 'नक्कारे' को भी स्थान दिया। दीपचन्द ने टेकियों की संख्या भी बढ़ाई। मंडली में भोजन आदि के काम में लगे व्यक्तियों को भी टेकिये के रूप में शामिल किया। उन्होनें स्त्री पात्रों की वेशभूषा भी निश्चित की। नीचे काले रंग का 'लहंगा, उस पर 'धारू की अंगिया', और ऊपर 'कंद' का ओढ़ना। अंगिया के साथ चालीस तौले की चांदी की तीन 'बीजनी' लगी होती थी। जिन्हें स्त्री वेशधारी नर्तक द्वारा नृत्य के समय एक विशेष प्रकार से छाती को छटका देकर बजाना पड़ता था। 'कंद' लाल रंग का एक कपड़ा होता है जो मंगल कार्यों में काम आता है। धारू की अंगिया में लगी तीन बीजनियों के कारण ही 'स्वॉग' में किये जाने वाले नृत्य में लास्य के स्थान पर तांडव को प्रधानता मिली। आज भले ही अंगिया का प्रचार न रहा हो पर नृत्य में तांडव का प्रभाव स्पष्ट है। इसके अलावा दीपचन्द ने 'चौबाला' के स्थान पर 'काफिया' छंद का चलन आरभ किया। जिसका गायन 'चौबाला' की तुलना में सहज है।

4. हरदेवा युगः– हरदेवा पं. दीपचन्द के शिष्य थे। दीपचन्द द्वारा 'स्वॉग' आरम्भ करने के दो वर्ष बाद ही हरदेवा उनसे अलग हो गए। उन्होनें अपनी नई मंडली की स्थापना की और स्वतन्त्र रूप से कार्यक्षेत्र में कूद पड़े। हरदेवा ने 'स्वॉग' में और अधिक स्वभाविकता लाने का प्रयत्न क़िया। उन्होनें दीपचन्द द्वारा निश्चित की 'धारू की अंगिया' का स्थान साधारण कूर्ते को दिया, जो हरियाणा प्रदेश के सामान्य स्त्री समाज के पहनावे का एक अंग था। हरदेवा ने 'काफिया' छंद का भी परित्याग किया। उसके स्थान पर लोक प्रचलित 'रागनी' का प्रयोग किया। जो आज तक प्रचलित है, जब कि काफिया के गायक हरियाणा में समाप्त प्रायः हो गए है। इस प्रकार दीपचन्द और हरदेवा द्वारा प्रचलित वेशभूषा और छन्दों की परंपरा समानान्तर चल कर दीपचन्द की मृत्यु के साथ हरदेवा की परंपरा अवशिष्ट रही, जबकि दीपचन्द की परंपरा लुप्त प्रायः हो गई।

5. लखमीचन्द युगः— 'स्वॉग' के इतिहास में लखमी चन्द का युग स्वर्णिम युग कहा जाता है। पं. लखमी चन्द का जन्म रोहतक जिले के जांट्टी गॉव में हुआ। वे बचपन में गऊ चराने का काम करते थे। अनपढ़ थे मगर गाने का शौक उन्हें बचपन से था। कुछ समय बाद उनका यह शौक इतना बढ़ा कि वे घर छोड़कर श्री मान सिंह से गाना और पिगंल शास्त्र सीखने चले गए। ये सब सीखने के बाद केवल सोलह वर्ष की आयु मे उन्होनें अपनी 'स्वॉग' मंडली की स्थापना की। किन्तु आवाज में अधिक माधुर्य न होने के कारण सफलता न मिली तो मंडली को भंग करना पड़ा। किन्तु इस दुख को वे भूल न सके। अन्त में उन्होनें एक अन्धे कुँए में उतर कर गायन का अभ्यास आरम्भ किया और उन्होनें पुनः मंडली की स्थापना की, इस बार उन्हें सफलता भी हासिल हुई। अनपढ़ होने के बावजूद· वे स्वयं 'स्वॉग' की रचना करते, उसे स्मरण रखते और साथियों को स्मरण करवाते। इस सब के बावजूद भी एक दुख था कि वे युवा वर्ग में तो अति चर्चित थे किन्तु वृद्ध और प्रतिष्ठित लोग उनके 'स्वॉग' को पसन्द नहीं करते थे। जिसका कारण था उस समय की उनकी श्रृंगारवादिता। युवा वर्ग उनके एक पद पर मुग्ध होता किन्तु तथाकथित सुधारवादी वर्ग इसे समाज का कलंक समझता। इस घोर श्रृंगार वृति के अन्तरगत उन्होनें नौ स्वॉगों की रचना की, और तब तक उनकी समझ में आ गया था कि वे किस प्रकार प्रतिष्ठित लोगों द्वारा सम्मानित हो सकते है। उन्होनें नौ श्रृंगार परक स्वॉगों के अतिरिक्त चौदह स्वॉगों की और रचना की, जो अध्यात्म परक स्वॉग थे। उन्होनें 'डोल्ली' नामक एक नई तरज का निर्माण किया और गायकी में और अधिक माधुर्य का पुट दिया, जो उस समय बहुत प्रसिद्ध हुई। इस प्रकार हरियाणा का तथाकथित सुधारवादी वर्ग पं. लखमी चन्द को हरियाणा का 'कालीदास' एवं 'शेक्सपीयर' मानने लगा।

6. मांगेराम युगः— श्री मांगेराम सोनीपत जिले के पाणची गॉव के निवासी थे। पेशे से ड्राइवर थे, किन्तु लखमी चन्द के इतने बड़े आशिक थे कि उनके 'स्वॉग' देखकर अपनी खुद की स्वॉग मंडली बनाने पर मजबूर हो गए। मांगेराम ने भी 'स्वॉग' में स्त्री

वेशधारी पात्रों की पोशाक में फेर बदल किया। इनसे पहले स्त्री पात्र मंच पर लहंगा पहनकर आते थे, किन्तु उन्होनें लंहगे के स्थान पर 'सलवार' को स्थान दिया।

इन युगों के अतिरिक्त अन्य कुछ कलाकारों ने भी 'स्वॉग' की विधा में फेरबदल करने का प्रयास किया, किन्तु वे इस विधा को आगे न बढ़ा सके। इनमें चन्द्रदत बादी का नाम उल्लेखनीय है। उन्होनें स्वॉग में स्वभाविकता लाने के उद्देश्य से अपनी मंडली में स्त्रियों को स्थान दिया, किन्तु यह परिवर्तन पुरूष प्रधान समाज मे सर्वमान्य न हो सका। इन्होनें दूसरा प्रयास किया टिकटों पर 'स्वॉग' करने का। आरम्भ में कुछ सफलता मिली, किन्तु स्वेच्छा से धन न्यौछावर करने वाली जनता इस प्रतिबन्ध को स्वीकार न कर सकी।

विभिन्न सांगियों द्वारा ऊपर दिए गए स्वॉग के विकास की यात्रा का पं.मांगेराम अपनी एक रागनी में वर्णन करते है जिसमें, सांग परम्परा अभिनय, मंच, वाद्यों और वेशभूषा का समीक्षात्मक परिचय दिया गया है। राजाराम शास्त्री द्वारा स्वॉग के विकास का वर्णन शायद इसी रागनी पर आधारित है जो इस प्रकार है:–

हरियाणे की कहाणी सुण ल्यो दो सौ साल की ।
कई किस्म की हवा चाल्ली नई चाल की।
एक ढ़ोलकिया एक सारंगिया खड़े रहैं थे,
एक जनाना एक मरदाना दो अड़े रहैं थे,
पन्दरा–सोल्हा कुंगर जुड़के खड़े रहैं थे,
गली और गितवाड्यां के म्हैं बड़े रहैं थे,
सब तैं पहलम या चतराई किस्सन लाल की।।

एक सौ सत्तर साल बाद फेर दीपचन्द होग्या
साजिन्दे तो बणा दिए औ घोड़े का नाच बन्द होग्या
निच्चै काला दामण ऊपर लाल कन्द होग्या
चमोला को भूल गए यू न्यारा छन्द होग्या
तीन काफिए गाए या बणी रंगत हाल की।।

हरदेवा दुलीचन्द चतरू भरतू एक बाजे नाई
घाघरी तो उसने भी पहरी आंगी छुटवाई
तैन काफिए छोड़ के कहरी रागनी गाई
उन तै पाछै लखमी चन्द नै डोली बरसाई
बातां ऊप्पर कलम तोड़ग्या जो आजकाल की।।

मांगेराम पाणची वाला मन मैं करै विचार
घाघरी के माने मरगे मूर्ख मूढ़ गवार
सीस पै दुपट्टा जम्फर पायां मैं सलवार
इब तै आगै देख लियो के चौथा चलै त्यौहार
जब छोरा पाहरै घाघरी किसी बात कमाल की।।[25]

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 1750 ई. के आस–पास हरियाणा में किशन लाल भाट ने इस कला का प्रणयन किया होगा। पं. मांगेराम जी की यह रागनी 1950 ई. के आस–पास की मान सकते है, क्योंकि यह उनके सांगी जीवन का मध्यकाल है। अबतक स्वॉग की शैलीगत विकास में कुछ फेरबदल करने वाले स्वॉगियों पर चर्चा की गई है। किन्तु कुछ अन्य स्वॉगी भी रहे है। जिन्होनें शैलीगत फेरबदल तो नहीं किए, फिर भी 'स्वॉग' को गतिशील बनाने में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिनकी चर्चा इसी अध्याय में की जाएगी।

किशन लाल भाट के बाद श्री बंसीलाल का समय सन् 1800 ई. माना गया है। कैप्टन आर. सी. टैम्पल ने इन के सांगों का सम्पादन सन् 1883 ई. में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दि लिजेंड्स आफ दि पंजाब' में किया है। इसमें बंसीलाल के तीन सांगों :– 1. 'गुरू गूग्गा' 2. 'राजा गोपीचन्द' तथा 3. 'राजा नल' का संकलन किया गया हैं। इसमें संकलित सरवर नीर, धुरू भगत आदि अनेक गाथाएं, निःसन्देह सांगों का आधार बनी। गुरू गूग्गा के 'स्वॉग' का उल्लेख एक भेंट में इस प्रकार किया गया हैः–

[25] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 100

शारदा सीस नवाय के, धरूं गनपत का ध्यान।
संग सम्पूरन कर दिया, करो मेरा कल्यान।।
करो मेरा कल्यान मात मैं मन इच्छा भर पाया।
जिस दिन मैंने शरण ली है भूले छन्द बताया।।
सात दीप नव खंड बीच मैं नहीं पायी तेरी माया।
कहता बंशीलाल मात, गूगे का स्वॉग बनाया।।[26]

19वीं शती के उत्तरार्द्ध में 'सांग' कला को अलीबख्श की प्रतिभा का सम्बल मिला। इनके सांगों की धूम हरियाणा, मेरठ और मेवाड़ में खूब मची। इसका कार्यकाल सन् 1854 से 1899 ई. माना जाता है। इनके 'सांग' अधिकतर रिवाड़ी के इलाके में होते थे। श्री देवीशंकर का कहना है कि रेवाड़ी में अलीबख्श के चबूतरे पर कोई गायक नहीं चढ़ता आर जब भी कोई सांगी रेवाड़ी आता है तो उसकी समाधि को नमस्कार करता है।[27] उनका परिचय एवं रिवाड़ी में 'सांग' करने की बात उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार कहीं गई है:—

दोहा

राजपूत हूं टीकावत मेरा अलीबख्श है नाम।
नगर मुडावर सुबस बसियो है मेरा निज धाम।।

तोड़

रेवाड़ी बना रहे गुलजार तमाशा किया बीच बाजार।[28]

इनके 'सांग' आजकल के सांगो की तरह ईश—वन्दना से आरम्भ होते थे।

---

[26] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 100
[27] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 102
[28] डा. शंकरलाल यादव, हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य,1960, पृ. 387

डा. शंकरलाल यादव ने अलीबख्श के सांगो को श्री बंशीलाल के सांगों से मिलते–जुलते माना है। ये लिखते है कि 'इस प्रकार के सांगों (तमाशे) अलीबख्श के थे, जिनका प्रचार हरियाणा के दक्षिण पूर्वी भाग में कई दशाब्द तक रहा है। इनके सांगों की भाषा सर टेम्पल द्वारा संकलित सांगों जैसी है। बानगी के रूप में उन्होनें 'तमाशा फिसाना अजाइब' की रागनी का यह अंश प्रस्तुत किया है:–

लोगों लुट गई री हम बेरनयां
बेरनयां री हम बेरनयं लोगो लुट
आज सुहाग हमारे री उनरे हिलकन लागी मेरी छतियां।
कौन दिलासा दे री पिया बिन बर्षन लागी है अंखियॉ।।
लोगो लुट गई री हम बेरनयां।

इनके सांगों के नाम हैं:– 'राजा नल का बगदाव', 'नल का छड़ाव', 'फिसाना अजाइव', 'पद्मावत', 'कृष्ण लीला', 'निहालदे', 'चन्द्रावल', 'गुलबकावली', महाराज शिवदान सिंह का 'बारह–मासा' तथा अलवर का 'सिफतनामा'।[29]

हरियाणा के उत्त्र–पूर्वी भाग में अलीबख्श के समकालीन सांगी थे:– योगेश्वर बालकराम, कृष्णस्वामी, गोवर्धन, पंडित शंकर लाल तथा अहमदबख्श। बालकराम ने 'पूर्ण भक्त', 'राजा गोपीचन्द', 'शीलांदे', 'कुंजड़ी' तथा 'रामायण' आदि 'सांग' लिखे। ये 'स्वॉग' ख्याल सवैये, चौबेले, और कवित्त शैली में लिखे गये। कृष्ण गोस्वामी जी ने भी इन्हीं की परम्परा में दिलबर, बुधामल, बिशनों और गुलबकावली की रचना की। गोवर्धन सारस्वत के 'सांग' 'महाभारत', 'कृष्ण लीला', 'जसबन्त सिंह' और 'दुल्ले' भी मंचित होते थे। पं. शंकरलाल के सांग 'पदमनी', 'भूराबादल', 'मोरध्वज', 'प्रहलाद' और चुनीलाल का 'हरिश्चन्द्र' भी थानेश्वर के अखाड़ों में अभिनीत होते थे।

[29] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 103

थानेश्वर खण्ड के कथित कवियों में सर्वाधिक ख्याति मिली थी श्री अहमद बख्श को। उनकी सांग–शृंखला इस प्रकार हैं:– 'रामायण', 'जयमल–फत्ता', 'गूग्गा', 'चौहान', 'सोरठ', 'चन्द्रकिरण', 'नवलदे' और 'कंसलीला'।

इनकी प्रतिष्ठा का प्रतिपादन करते हुए श्री देवीशंकर प्रभाकर ने लिखा है कि उन दिनों थानेश्वर में भादर का अखाड़ा और नानक का अखाड़ा नाम से दो प्रसिद्ध अखाड़े थे। कवि अहमद जो कि एक उच्चकोटि के अभिनेता भी थे। भादर के अखाड़े के खिलाड़ी कहलाते थे। फागुन का महीना आने पर ऐसा लगता मानों सारा थानेसर इन दोनों अखाड़ों में उमड़ आया हो, उन दिनों 'सांग' ब्रह्ममुहूर्त्त में शुरू किया जाता और दोपहर तक चलता। ब्रज की 'नौटंकी' से इसका रूप बहुत कुछ मिलता है। सम्भव है कि कवि योगेश्वर बालकराम और अहमद हाथरस और कानपुर की 'नौटंकी' शैलीयों के प्रेरणा स्त्रोत रहे है।[30]

19वीं शती के अन्तिम चरण में स्वामी शंकरदस के शिष्य पं. नेतराम को एक नाटकीय घटना ने कथावाचक से सांगी बना दिया। एक स्थान पर वे कथा कह रहे थे कि वहां जिला मेरठ के खेड़ी निवासी पण्डित किशनलाल ने अपने 'सांग' का दुगल आ जमाया। लोग उठ–उठ कर 'सांग' की राह लेने लगे। इस पर पं. नेतराम बड़े खिन्न हुए। कथागायन को नमस्कार करके उन्होनें अपनी 'सांग' मंडली बना ली। इनका पहला 'सांग' 'सीला सेठाणी' था, जिसके अभिनय की उन दिनों खूब धूम मची।

इनका 'सांग' से सन्यास लेना भी कम विस्मयपूण नहीं है। इनके गुरू स्वामी शंकरदास नहीं चाहते थे कि पं. नेतराम 'सांग' करे क्योंकि सभ्य समाज में इसे अश्लील समझा जाता था। गुरू के इस भ्रम का निराकरण करने के लिए उन्होनें स्वामी शंकरदास जी को अपने गॉव इस्मायला बुलाया तथा जिस चौबारे में गुरू जी ठहरे हुए थे, उसका बाहर से ताला बन्द कर दिया और साथ के खुले मैदान में अपना अखाड़ा जमा लियां। अब गुरू जी खिड़की या झरोखे में से 'सांग' देखने के सिवाय और कर ही क्या सकते थे ? पहले तो वह झुंझलाते रहे पर ज्यों–ज्यों 'सांग' की गति बढ़ने लगी वे भी मन्त्रमुग्ध हो गए। 'सांग' समाप्त होते ही उन्होनें नेतराम को छाती से लगा लिया और आशीर्वाद दिया

[30] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 104

कि वह इस कला में और भी उन्नति करे। परन्तु नेतराम ने कुछ और ही बात सोच रखी थी 'मैंने आज से 'सांग' न करने की शपथ ले ली है, गुरूदेव! यह मेरा अन्तिम खेल था।' इसके बाद पं. नेतराम ने 'सांग' नहीं खेला। उनके गीत सरस, सरल एवं सारगर्भित होते थे, जिनमें सामाजिक कुरीतियों को खूब कीला जाता था।

श्री रामलाल खटीक सोनीपत भी इनके समकालीन थे। वे भी कथावाचक से सांगी बने। गोपीचन्द, शीला और पूरण भक्त इनके प्रसिद्ध 'सांग' है।[31]

7 आधुनिक युगः— आधुनिक युग वह युग है, जिसमें सिनेमा ने अपने पैर ही नहीं जमाए, बल्कि दर्शक की रूचियों को भी प्रभावित किया। सिनेमा के संगीत का प्रभाव जनता पर बहुत गहरा पड़ा। जिसमें आकाशवाणी सहायक सिद्ध हुआ। ऐसी स्थिति में 'स्वॉग' का इस प्रभाव से अछुता रह जाना असम्भव था। यह ठीक है कि अधिकतर स्वॉगी आज भी अपनी लोक धुनों में ही 'स्वॉग' करते है, किन्तु अनेक युवा स्वॉगियों ने अपने स्वॉगों में फिल्मी धुनों को स्थान दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नई पीढ़ी ने उन फिल्मी धुनों को पसन्द भी किया है, किन्तु पुराने स्वॉगियों के रंग में रंगे पुराने लोग इस परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर पाए। उन्हें फिल्मी धुनों को सुनकर ऐसा लगता जैसे टाट में मखमल का पैबन्द लगाया जा रहा हो। फिल्मी तर्जो के पीछे भारी धन और उसके आधार पर वैसा ही भारी भरकम आर्केस्ट्रा चाहिए, अन्यथा उसके आभाव में तो उन्हीं तर्जों में लिप्टा हरियाणवी लोक संगीत लगता है। अतः फिल्मी तर्जों को काफी हद तक प्रभावित किया।

विषय वस्तु के आधार पर स्वॉगों का वर्गीकरणः— 'स्वॉग' की कथावस्तु के निम्नलिखित स्त्रोत है। उन स्त्रोतों के आधार पर स्वॉगों का वर्गीकरण करने से 'स्वॉग' के परिप्रेक्ष्य को समझना सुविधाजनक हो सकता है। वे स्त्रोत हैः—

---

[31] डा. पूर्णचन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. 105

1 . पौराणिक

2 . ऐतिहासिक

3 . सामाजिक

1. पौराणिक स्वॉग :– पौराणिक स्वॉगों में उपदेश का तत्व प्रधान होता है। इन स्वॉगों का उद्देश्य केवल मनोरंजन करना न होकर जनता में धार्मिक भावनाओं का प्रचार प्रसार करना है। इन पौराणिक स्वॉगों के आलेख इस प्रकार हैः–

1. सत्यवादी हरिशचन्द्र	–––	लखमी चन्द
2. सत्यवान सावित्री	–––	चन्द्रलाल 'बादी'
3. नरसी का भात	–––	चौधरी नत्थू दास
4. दमयन्ती स्वयंवर	–––	चन्द्रलाल 'बादी'
5. सांगीत मोरध्वज	–––	बलवन्त सिंह 'बुल्ली'
6. ध्रुव भगत	–––	चन्द्रलाल 'बादी'
7. राजा नल	–––	लखमी चन्द
8. नल दमयन्ती	–––	बलवन्त सिंह 'बुल्ली'
9. चन्द्रहास	–––	बलवन्त सिंह 'बुल्ली'
10. शिशुपाल वद्ध	–––	चन्द्रलाल 'बादी'
11. वैराट पर्व	–––	बलवन्त सिंह 'बुल्ली'
12. सांगीत कृष्ण भगत	–––	बलवन्त सिंह 'बुल्ली'
13. ऊषा अनिरूद्ध	–––	चन्द्रलाल 'बादी'
14. पिंगला भरथरी	–––	बलवन्त सिंह 'बुल्ली'

2. एतिहासिक स्वॉगः– अधिकांश सांगी कलाकारों के निरक्षर होने के कारण उनका ऐतिहासिक ज्ञान बहुत ही कम होता है। शायद यही कारण है कि स्वॉग–साहित्य में

ऐतिहासिक स्वॉगों की संख्या अधिक नहीं पाई जाती। उन गिने–चुने ऐतिहासिक स्वॉगों के आलेख इस प्रकार हैः–

1. अमर सिंह राठौर ——— चन्द्रलाल 'बादी'
2. महराजा अशोक ——— बनवारी लाल
3. मीरा बाई ——— लखमी चन्द
4. हकीकत राय ——— पं. मांगे राम

3. सामाजिक स्वॉग :– समाज से ली गई कथाओं पर आधारित स्वॉगों को सामाजिक स्वॉग कहते है। सामाजिक स्वॉग भी अधिक संख्या में खेले गए है। सामाजिक स्वॉगों के आलेख इस प्रकार हैः–

1. रूपकला ———
2. सुमित्रा चन्द्रपाल ———
3. महकदे जानी चोर ———
4. रंगीली रेशमा ———
5. सेठ तारा चन्द ———
6. कुंवर निहालदे ———
7. चन्द्रहास ———
8. किरणमयी ———
9. पृथ्वी सिंह ———
10. कान्ता देवी लाल बहार ———
11. सरवर नीर ———
12. राजबाला अजीत सिंह ———
13. बण देवी ———
14. चन्द्र किरण ———
15. रामानन्द मोहना देवी ———
16. पद्मावत ———

17. अंजना ———

18. शरणदे ———

19. रानी पिगंला ———

20. देवर–भाभी ——— सगुवा सिंह

21. हिरामल–जमाल ——— रामकिशन व्यास

22. भारत–चीन ——— चन्द्रलाल 'बादी'

23. चन्द्रा की चतुराई ——— चौधरी तोफा सिंह

24. नौ बहार ——— चन्द्रलाल 'बादी'

25. किसानों की पुकार ——— धनपत सिंह

26. सुहाग का दुहाग ——— चन्द्रलाल 'बादी'

27. रूप कला जादूखोरी ——— राम किशन व्यास

28. फूलवती मनियारी ——— राम किशन व्यास

29. एक फूल दो भौरें ——— राजबीर सिंह गहलोत

30. धर्म की जीत ——— राम किशन व्यास

31. मुरादाबादी बर्तन ——— रामरतन कौशिक

32. दो दोस्त ——— धनपत सिंह

33. कमला – मदन ——— चन्द्रलाल 'बादी'

34. मूसल की मार ——— झण्डू मीर

35. चांदकौर बनजारे की ——— नसरू मीर

36. गरीब की दीवाल ——— बुन्दू मीर

समाजिक कथाओं मे कुछ स्वॉग ओर आते हैं, जिसको हम श्रृंगारिक एवं प्रेम कथाओं की श्रेणी में रखेगें। जैसेः–

1. शीरी –फरहाद ———

2. लैला – मजनू ———

3. हीर – रांझा ———

4. लीलो – चमन ———

अध्यायः दो

लोक नाट्यों में स्त्रियों की सहभागिताः— प्रारम्भ से ही हमारे समाज में कला का क्षेत्र हो या फिर कोई अन्य क्षेत्र, जीवन के सभी पक्षों पर स्त्रियों के अस्तित्व एवं उनकी भागीदारी के विषय में एक नकारवाद की स्थिति रही है। शिक्षा के व्यापक प्रचार–प्रसार के बावजूद भी इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के छः दर्शक बाद भी आम भारतीय के स्त्री संबंधित दृष्टिकोण में मूलभूत अन्तर नहीं आया है। आज भी समाज में पुरूष–प्रधान दृष्टिकोण का प्रभुत्व जीवन के हर क्षेत्र में साफ नजर आता है। गैर बराबरी के इस संबंध को रंगमंच के माध्यम से समझना और अधिक दिलचश्प होगा। रंगमंच में भी लोकनाट्य खासतौर परस्वॉग इस संबंध को समझने में अधिक कारगर है।

स्वॉग में आरम्भ से ही स्त्री पात्रों की भूमिका पुरूषों द्वारा करने की परंपरा चली आ रही है। कुछ लोगों का मानना है कि स्वॉग में केवल सामाजिक कारणों से ही पुरूषों को स्त्रियों की भूमिका निभानी पड़ती है। जबकि कुछ लोग सामाजिक कारणों के साथ–साथ कुछ हास्यास्पद तर्कों का हवाला देते है। वैसे तो तमाम लोकनाट्यों की स्थिति एक समान है किन्तु स्वॉग इस संबंध में सबसे अग्रणी भूमिका में है। जबकि आज समाज में स्त्रियों ने साबित कर दिखाया है कि चाहे कोई भी क्षेत्र क्यूं ना हो, किसी भी मामले में वे पुरूषों से पीछे नहीं है। मगर बड़ी आश्चर्यजनक बात है कि इसके बावजूद भी समाज में पिछड़े विचारों के लिए लगातार जगह बनी हुई है। भारतीय रंगमंच इस बात का जीता–जागता उदाहरण है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय आधुनिक रंगमंच में तो स्त्रियों की भागीदारी कुछ हद तक सुनिश्चित हुई है, किन्तु दृष्टिकोण का आधार अब भी पुरूषवादी मानसिकता ही है। भारतीय लोकनाट्यों में तो यह स्थिति और अधिक दयनीय है। ऐसा भी नहीं है कि भारत के सभी लोकनाट्यों की स्थिति एक–समान है। दक्षिण–भारत, महाराष्ट्र, बंगाल, आसाम एवं उड़ीसा आदि राज्यों के लोकनाट्य जैसे यक्षगान, कथकली, कुचिपुड़ी, तमाशा, जात्रा आदि लोकनाट्यों में इस समस्या पर कुछ हद

तक काबू पा लिया है। छत्तीसगढ़ के लोकनाट्य 'पाण्डवानी' में तो 'तीजन बाई' स्त्री होते हुए नेत्रत्वकारी भूमिका निभा रही है। किन्तु उत्तर भारत के लोकनाट्यों में अब भी स्थिति संतोशजनक नहीं है। स्वॉग इसका सबसे सटीक उदाहरण है। 'स्वॉग' के बारे में कुछ विद्वानों का मत है किस्वॉग में केवल सामाजिक कारणों से ही पुरूषों को स्त्रियों की भूमिका निभानी पड़ती है जबकि यह तर्क एकदम निराधार है। इन सामाजिक कारणों का ढ़िंडोरा पीटने वालों को पता होना चाहिए कि 'भील' जाति में जब सभी समारोहों में पुरूषों के साथ स्त्रियॉ नाच–गाने में शामिल होती है तो उनके गवरी लोक नाट्यों में पुरूष ही स्त्रियों की भूमिका क्यों अदा करते हैं ? राजस्थान एवं गुजरात के 'भवाई' नाट्यों मे जब स्त्रियॉ प्रायः मंडली के साथ रहती है। पुरूषों को सजाने–सवारने का काम भी करती है और जीवन के अन्य प्रसंगों में भी पुरूषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करती हैं तो रंगमंच पर ही इस सहभागिता पर आपत्ति क्यों ? पारंपरिक कला–जातियों में एवं असम, बंगाल, महाराष्ट्र, दक्षिण भारत आदि राज्यों में जहॉ पर्दा–प्रथा भी नहीं है और स्त्रियॉ जीवन के सभी प्रसंगो मे पुरूषों के साथ खुलकर कार्य–कलाप करती हैं, तो लोकनाट्यों में ही उनका प्रवेश वर्जित क्यों है। आज स्वतन्त्र भारत में सामाजिक तर्कों को ढ़ाल बनाने की बजाय सामाजिक ढ़ाचों को ही पुर्नपरिभाषित करने की जरूरत है। कोई निरक्षर व आम आदमी इस तरह के तर्क दे तो समझ में आता है, जिन्होने उन्हीं पारंपरिक ढ़ाचों में अपना जीवन जीया है। किन्तु आश्चर्य तब होता है जब लोकनाट्यों पर लगातार लिखने वाले विद्वान भी समाज के उन संकीर्ण विचारों के साथ समझोता करते प्रतीत होते है। स्त्री बने पुरूष पात्रों की अयोग्यता में ही योग्यता की प्रतीति को सिद्ध करते हुए देवीलाल सामर नौटंकी का एक उदाहरण प्रस्तुत करते है "कि नौटंकी की एक ऐसी मंडली जिसमें सभी पुरूष पात्र काम करते थे। 'स्याहपोश' नाटक चल रहा था। आगरा की प्रसिद्ध तवायफ 'मुन्नीजान' के अलावा स्त्रियों की भूमिकाएँ सभी पुरूष ही अदा कर रहे थे। प्रमुख नायिका की भूमिका में 'मुन्नीजान' थी। सौन्दर्य में अद्भुत और नाचने–गाने में उसे महारत हासिल थी, वेतन भी भरपुर मिलता था। आयोजकों ने सोचा कि उसकी वजह से उन्हे खूब आर्थिक लाभ होगा। मुन्नीजान का वह प्रथम प्रदर्शन था। कुछ देर तक तो नौटंकी चलती रही किन्तु कुछ देर बाद तालिया एवं सीटियां बजनी शुरू हो गई।

आयोजक भी कुछ देर तक यह बात समझ नहीं पाए। बाद में शोर इतना बढ़ा कि प्रर्दशन को बीच में ही रोकना पड़ा। दर्शकों से आवाजें आनी शुरू हुई तब कहीं जाके राज खुला, कि हमें मुन्नीजान नहीं चाहिए घनश्याम को आने दीजिए। घनश्याम वह लड़का था जो मुन्नीजान से पहले मुख्य नायिका की भूमिका अदा करता था। अतः आयोजको को मजबूर होकर नायिका की भूमिका में पारंगत घनश्याम को मुन्नीजान के स्थान पर मंच पर लाना पड़ा। सर्वत्र शान्ति छा गई। धीरे–धीरे रंग बरसने लगा और जनता विभोर हो गई।[32] असल में इस उदाहरण से देवीलाल सामर जी कहना चाहते है कि स्त्रियां शारीरिक एवं मानसिक रूप से पुरूषों की तुलना में कमजोर होती है। अतः नक्काड़े की बहरे तवील अथवा बिजली की गति पर गरजती हुई चलने वाली गतों पर नाचना किसी भी स्त्री के लिए असंभव सा होता है। मध्य प्रदेश के लोकनाट्यों में तो कहा जाता है कि 'मर्द हो सो चढ़े माच पर' माच की तरह स्वॉग भी तख्ता तोड़ प्रदर्शन कहलाता है। स्वॉग के बारे में भी कुछ लोगों से साक्षात्कार करने पर भी यही ज्ञात होता है। आम दर्शक यह बात कहे तो चल सकता है, किन्तु लोक नाट्य के मर्मज्ञों का भी यही मानना है कि स्वॉग या कोई अन्य लोकनाट्यों में स्त्रियों की सहभागिता के पीछे प्रतिभा ही एक मात्र आधार है। जबकि असल में यह प्रतिभा का मसला नही बल्कि समाज की ओछी मानसिकता का परिणाम है, जिसके तहत पितृसत्ता को शय देने वाले लोग नहीं चाहते कि स्त्रियॉ अपने अस्तित्व, अपने आत्मसम्मान, अपने अधिकारों और बराबरी की बात करे और आगे आएं। अरस्तु अपने काव्य शास्त्र में कहता है कि पात्र अच्छा होना चाहिए। वह सच्चाई को वर्ग से जोड़ता है और वर्ग को जैन्डर से , "Silence is womans glory" अतः इससे स्पष्ट है कि जब बोलने का ही अधिकार नहीं था तो रंगमंच में संवाद बोलना तो बहुत दूर की बात है। प्रतिभा का तर्क अब नहीं चल सकता, क्योंकि हरियाणा प्रदेश में ही स्वॉग के समानान्तर 'रागनी' की परंपरा भी प्रचलित है। जिसमें कुछ स्त्री लोक कलाकारों ने अपनी बुलंद आवाज और अपनी प्रतिभा से यह साबित कर दिखाया है कि वे गायकी के क्षेत्र में पुरूषों से कम नहीं है। क्योंकिस्वॉग में नृत्य का अंश तो नाम मात्र ही होता है, पूरा

[32] देवीलाल सामर, भारतीय लोकनाट्य : वस्तु और शिल्प, पृ. – 57

प्रदर्शन गायन शैली पर आधारित होता है। इन स्त्री लोक कलाकारों में – सरिता चौधरी, नीलम चौधरी एवं पाशी नैयर आदि के नाम उल्लेखनीय है। हरियाणा में भी एक समय पर नर्दक और मेरठ के आसपास के क्षेत्रों में स्त्रियों की कुछ मण्डलिया होने के तथ्य मिलते है। जिन मण्डलियों में स्त्रियों की भूमिका स्त्री ही अदा करती थी। कलायत की 'सरदारी बाई' के बारे में अब भी बड़े– बूड़े बताते है कि किस प्रकार वह 'रांझा' बनती थी और उसकी बहिन अखतरी 'हीर'। गंगेरू की नटणियों कीस्वॉग मण्डली भी बड़ी प्रसिद्ध रही है। जिला करनाल स्थित इन्द्री की गायिका 'बाली' ने भी आगे चलकरस्वॉग किये। बाली स्वयं मुख्य अभिनेता की भूमिका में उतरती थी। यहॉ तक कि विदूषक भी स्त्री ही होती थी। उन मंडलियों में केवल साजिन्दे ही पुरूष होते थे। इन मंडलियों केस्वॉग अकसर रात की बजाए दिन में होते थे। डॉ. इन्द्र सेन शर्मा ने इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है किस्वॉग में स्त्रियॉ भाग लेती रही है और वे सुन्दर अभिनय करके दिखा सकती है। मुजफफर नगर में आज भी 'इन्दल लल्ली' नाम की स्त्री स्वॉग खेलती थी और जिसे बड़ी ख्याती प्राप्त थी। यह टोली इसी के नाम से प्रसिद्ध थी और यही इसकी संचालिका एवं निर्देशिका भी थी।[33] हरियाणा में स्वॉगी 'चन्द्रबादी' ने भी स्वॉग में स्त्रियों को स्थान देकर एक नया प्रयोग किया था, जो पुरूषवादी समाज में सफल न हो सका। एक अन्य तर्क यह भी दिया जाता हैं कि लोकनाट्यों की शृंगारिक कथाओं मे कुछ प्रसंग ऐसे आते है, जहॉ पुरूष पात्रों को पति या प्रेमी के रूप में अपनी प्रेमिकाओं के घूंघट उठाने पड़ते हैं, कुछ शृंगारिक संवाद भी बोलने पड़ते है, कई असाधारण क्रिया–कलाप भी करने पड़ते है, अनेक भद्र–अभद्र मजाक भी करने पड़ते है। जो स्त्री बने पुरूष पात्रों के व्यावहार में तो संभव है परन्तु वास्तविक स्त्री के व्यवहार में अशिष्ट लगते है। असल में इस कथन के पीछे भी उसी सनातनी विचारधारा के बीज है, जिसने स्त्रियों के लिए सांस्कृतिक नियम–सिद्धान्त तय किये है, कि स्त्रियों को यह करना है और यह नहीं करना है। जिस विचारधारा को ढोने वालों को खुद स्त्री पात्रों की भूमिका निभाना स्वीकार है, किन्तु स्त्री अगर मंच पर आ जाए तो उनकी तथाकथित प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचती है। असल जीवन में वही पुरूष कलाकार किसी स्त्री के साथ छेड़खानी कर सकता है किन्तु मंच पर एक

[33] डॉ. पूर्ण चन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा पृ. – 148

श्रृंगारिक रिश्ता निभाने में उसका मान–सम्मान दाव पर लग जाता है। एक अन्य धारणा भी हमारे लोकनाट्यों में खास तौर पर धार्मिक लोकनाट्यों में व्याप्त है कि नाटक की प्रमुख नायिका विशेष रूप से चरित्रवति नायिका का अभिनय पुरूष पात्रों द्वारा किया जाना गौरवपूर्ण समझा जाता है। क्योंकि समाज में यह मान्यता भी घर किये हुए हैं कि रंगमंच पर काम करने वाली अधिकांश स्त्रियां चरित्रहीन होती है, और ऐसी भ्रष्ट स्त्रियों द्वारा सती स्त्रियों का अभिनय करना प्रतिष्ठा के विरूद्ध है। आगरा की एक प्रसिद्ध नौटंकी में 'सती तारामती' का अभिनय आगरा की एक प्रसिद्ध तवायफ द्वारा किये जाने पर भयंकर बवाल मच गया था। जब तक तवायफ के स्थान पर दर्शकों का मनचाहा बाल अभिनेता चिरंजीव स्त्री बेश में तारामती का अभिनय नहीं करने लगा, तब तक दर्शकों ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा।[34] यह धारणा केवल स्त्रियों के अभिनय तक ही सीमित नहीं है, सचरित्र नायको के चरित्र भी सचरित्र पुरूषों द्वारा ही अभिनय होने चाहिए। यह परंपरा भारत के सभी धार्मिक लोक नाट्यों में आज भी प्रचलित है। उत्तर प्रदेश की राम लीलाओं और कृष्ण लीलाओं के राम, कृष्ण, सीता, लक्षमण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान आदि सचरित्र नायकों की भूमिका उच्चकूलीन एवं सचरित्र युवकों पर ही निर्भर रहती है। असल में इस धारणा के पीछे सचरित्र होने के मापदंड सीधे उच्चकुल से जुड़े हुए है। अन्यथा यह कौन तय कर सकता है कि यह अभिनेता चरित्रवान है और यह चरित्रहीन। धार्मिक नाट्य प्रायः इन्ही हास्यास्पद मान्यताओं एवं रूढ़ियों पर ही टिके हुए है। खैर यहॉ हमारे लिए वर्गों की बजाय स्त्रियों की भूमिका पर ही केन्द्रित रहना उचित होगा। "

लोक नाट्यों में आधुनिक नाट्यों की तरह रंगमंचीय व्यवस्था, वेशभूषा बदलने की सुविधा, किसी भी प्रकार की बाधा से मुक्त होकर काम करने की सहूलियत नहीं होती। लोक नाट्यों में दर्शक–प्रदर्शक मिले–जुले ही काम करते है। अनऔपचारिकता के वातावरण में एक–दूसरे में कोई खास अन्तर नहीं होता। इसलिए स्त्री पात्रों के लिए यह अनौपचारिक स्थिति अनुकूल नहीं होती। परिणाम स्वरूप लोक नाट्यों का यह वातावरण स्त्री सुलभ लज्जा और मान–मर्यादाओं के लिए अनुकूल नहीं है। इस तर्क के पीछे भी उसी पुरूषवादी मानसिकता के ही अंश है, जो स्त्रियों के लगातार आगे आने में बाधा

[34] देवीलाल सामर, लोकनाट्य, पृ. – 213

उत्पन्न करतीं हैं, और उन्हें लगातार स्त्री होने का अहसास कराती है, नहीं तो क्या सिर्फ वेशभूषा बदलने की सुविधा कोई इतनी बड़ी बात हैं, जो लोक नाट्यों में उपलब्ध न करायी जा सके। अतः मुद्दा फिर उसी पुरूषवादी दृष्टिकोण पर आकर सिमट जाता है। तथाकथित बुद्धिजीवी जिस लज्जा और मान–मर्यादा की बात करते है, वह भी हमारे समाज एवं आधुनिक रंगमंच के सामने एक बहुत बड़ा सवाल है। जिसका जवाब आधुनिक रंगकर्मियों को पारंपरिक ढांचों से ऊपर उठ कर तलाशना होगा।

लोकनाट्यों में स्त्रियों को रंगमंच पर न आने देने के पीछे एक अन्य तर्क जो क्षेत्र कार्य के दौरान एक बुजुर्ग व्यक्ति से साक्षात्कार करने पर पता लगता है कि कहीं स्त्रियों के मंच पर आने से किसी का ग्रहस्थ जीवन न बिगड़ जाए। व्यक्ति का मानना था कि लोकनाट्यों में काम करने वाले अधिकांश पात्र दीन–दुनिया से बेफिक्र एवं मस्तमौला किस्म के होते है। उन्हें व्यवसायिक मंडलियों में घूम–घूम कर प्रदर्शन करने पड़ते हैं और इसी कारण वे जनता की आंखों के तारे बने रहते है। अतः स्त्री कलाकारों को इन मंडलियों में रखने से स्थिति और अधिक बिगड़ सकती है। जब दर्शक समुदाय के ही पारिवारिक जीवन क्षत–विक्षत हो सकते है, तो स्वयं प्रदर्शकों के पारिवारिक जीवन का निर्वाह कहॉ हो सकता है। कहा जाता है कि मध्य प्रदेश के 'माच' प्रदर्शनों से प्रभावित होकर अनेक स्त्रियां घर छोड़कर 'माच' कलाकारों के साथ हो ली थी या तथाकथित भाषा में कहें तो भाग गई थी। अगर एक बार के लिए लोक नाट्यों को समाज से अलग करदे तो क्या ऐसी घटनाएं आम समाज में नही घटती ? इस तरह की घटनाओं को ढ़ाल बनाना कदाचित उचित नहीं हैं, ये घटनाएं बिल्कुल अलग मसला है। जो रंगमंच ही नहीं समाज के किसी भी क्षेत्र मे आप देख सकते है। रंगमंच पर स्त्रियों के आने से इसका कोई संबंध नहीं है। अतः इस तरह के तमाम तर्क निराधार है। इसके पीछे कोई आधारभूत कारण है तो वह यही है कि प्रारम्भ से ही पुरूषवादी वर्चस्व को बनाए रखने वालों को स्त्रियों का रंगमंचीय आधिपत्य स्वीकार नहीं। अगर एक बार के लिए मान भी ले कि इस तर्क में सत्य का अंश मात्र है, तो दर्शकों में तो स्त्रियों की सहभागिता पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। जबकि सच्चाई तो यह है किस्वॉग में स्त्रियों की सहभागिता कलाकार के रूप में ही नहीं, बल्कि दर्शक के रूप में भी नही के बराबर है। यह बात सिर्फ स्वॉग

का महिमामंडन करने वालों के द्वारा दिये गए उदाहरण से भी स्पष्ट होती है। जब लोग स्वॉग के संगीत पक्ष का महिमामंडन करते हैं तो कहते है कि स्वॉग के संगीत में वो जादू है, कि पनघट पर पानी भरती स्त्रियां स्वॉग के संगीत को सुनकर ठगी सी रह जाती है, और चूल्हे पर खाना बनाती स्त्रियां संगीत के जादू से अपना हाथ जला बैठती है।[35] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि जिस समय पूरा गांव (पुरूष वर्ग) तमाम दुख एवं चिन्ताओं से कोसों दूर अपना मनोरंजन कर रहा होता है, उस समय स्त्रियां पनघट या फिर रसोई में होती हैं। जो पुरूषवादी मानसिकता की असंवेदनशीलता को ही प्रकट करता है।

यदि पाश्चात्य रंगमंच की ऐतिहासिक यात्रा पर विचार करें तो पता लगता है कि रंगमंच के क्षेत्र में आरम्भ में स्त्रियों की सहभागिता के विषय में नकारवाद की स्थिति नहीं थी। छठी–सातवीं शताब्दी में 'ऐथेन' में होने वाले उत्सव में भी स्त्रियों और पुरूषों के बीच यह भेद–भाव नहीं था। पाश्चात्य रंगमंच की शुरूआत इसी उत्सव से मानी जाती है। नाटक, अभिनय, स्थान, मुखौटे, वेशभूषा और दर्शक एवं अभिनेताओं के संबंध की सारी धारणाएं इसी उत्सव से जन्म लेती है। छठी शताब्दी में स्त्रिया और पुरूष दोनों इसमें शामिल होते थे। किन्तु सातवीं शताब्दी के दौरान जैसे–जैसे उत्सव रंगमंच में बदलने लगे तो स्त्रिया गायब होने लगी। स्त्रियों को यह करना हैं, यह नहीं करना हैं, इसके बारे में कोई कानून नहीं था। अतः स्पष्ट है कि स्त्रियों के रंगमंच से बाहर होने का कारण पाश्चात्य समाज के नए नैतिकता संबंधित नियम–सिद्धांत ही थे, न कि कोई खास राजनैतिक या रंगमंचीय कारण। 'ऐथेन' के इस उत्सव में स्त्रियों के गायब होने के बाद पुरूषों के सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि पुरूष कैसे दर्शाएं कि वह स्त्री पात्र की भूमिका निभा रहा है। इस प्रकार वेशभूषा, मुखौटा, लम्बे बाल, आवाज, चाल–चलन, भाव–भंगिमाओं आदि से यह सब दर्शाया जाने लगा। परिणाम स्वरूप स्त्री की जो छवि उभर कर सामने आयी वह पुरूषवादी दृष्टिकोण से ही संचालित होती थी। जिसमें काफी फूहड़पन होता था। उनके काम में पुरूषवादी दृष्टिकोण साफ – साफ झलकता था। पुरूष वेशभूषा एवं भाव–भंगिमाओं से स्त्री की ऐसी छवि उभारते थे, जैसी छवि पुरूष असल

---

[35] देवीलाल सामर, लोकनाट्य, पृ.– 209

जीवन में चाहते थे। यह स्पष्ट है कि औद्योगिक देशों में पितृसत्ता का स्वरूप प्रारम्भ से ही ऐसा नहीं था। बाद में जाकर पुरूषवादी वर्चस्व का प्रभुत्व समाज के हर क्षेत्र में नजर आने लगा। किन्तु अन्तर सिर्फ इतना है कि औद्योगिक देशों में पितृसत्ता को थोड़ा पहले पहचान लिया गया। परिणामस्वरूप 1960 के आस–पास कुछ स्त्रीवादी आन्दोलन हुए। तब कहीं जाकर स्त्रीवाद की स्वीकार्यता बनी। जिन आन्दोलनों ने सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी हलचल मचा दी। इन आन्दोलनों कि शुरूआत विरोध के जरिये सड़को और गलियों से हुई। जिसमें रंगमंच स्त्रियों की अभिव्यक्ति का बहुत बड़ा माध्यम बनकर सामने आया। अतः इन आन्दोलनों परिणामस्वरूप इस जद्दो–जहद के बाद रंगमंच में स्त्रियों का आना शुरू तो हुआ , किन्तु उन्हें कलात्मक दृष्टि से कभी नहीं देखा गया। उनका इस्तेमाल पुरूषों को आनंद प्रदान करने के लिए ही किया गया। वे स्त्रियां कहीं न कहीं पुरूष वर्चस्व को ही मजबूत बना रही होती थी। और पुरूषों के ही इर्द–गिर्द घूमती नजर आती थी। उनका अपना कोई अस्तित्व या महत्व नहीं था। उनकों उपयोग की वस्तु (sexualobject) के तौर पर और पुरूष दर्शको की आनन्द प्राप्ति (sexual pleasure) के लिए ही इस्तेमाल किया जाता था। अर्थात उनकी भावनाओं का रूमानी शोषण (Romantic Exploitation) किया जाता था। इसके चलते स्त्री कलाकारों को लगातार यह अहसास होता रहा कि कलाकार होने के लिए पुरूष होना जरूरी है। आश्चर्यजनक बात यह है कि पुरूष ही स्त्रियों के लिए आदर्श प्रतिबिम्ब (Roll Model) तय करते थे। पुरूषों द्वारा ही स्त्रियों को यह सिखाया जाता था कि एक स्त्री को कैसे चलना चाहिए, कैसे व्यवहार करना चाहिए। परिणाम स्वरूप स्त्री खुद की पहचान ही नहीं बना पायी। वह खुद से ही इतना बेखबर बनी रही और पुरूषों का अनुशरण करती रही। क्योंकि शेक्सपियर या उस दौर के जितने भी नाटककार हुए, उनके नाटकों के महिला पात्रों के चरित्र पुरूषों को ध्यान में रखकर ही लिखे गए थे। अतः रंगमंच मे स्त्रियों के आगमन से जो परिवर्तन होना चाहिए था, वो नहीं हो पाया। क्योंकि सत्ता एवं दृष्टिकोण वही पुरूषवादी था। ऐसी स्थिति में कुछ स्त्रिवादी आन्दोलनों की स्त्रियों ने स्वयं रंगमंच के क्षेत्र में हस्तक्षेप किया और रंगमंच मे स्त्रियों के लिए जगह बनायी जिससे इंग्लैण्ड में

17वीं शताब्दीं में, अमेरिका में 19वीं शताब्दी में और योरोप में 20वीं शताब्दी के आसपास कुछ–कुछ स्त्री नाटककारों का पता लग जाता है। अन्यथा शास्त्रीय युग (Classic Period) में तो पुरूषों द्वारा जो नाटक लिखे गए, उनके स्त्री पात्रों से ही स्त्रियों के होने का आभास होता था। इस प्रकार कुछ स्त्रियां आलोचक भी हुई, जिन्होंने शास्त्रिय नाटक और इतिहास में स्त्रियों के प्रतिनिधित्व में अध्ययन करते हुए जाना कि उस समय निजी जीवन (Private Life) और सार्वजनिक जीवन (Public Life) में अन्तर करना कितना जरूरी था। पितृसत्तात्मक ढ़ाचों ने स्त्री की असली छवि को दबाकर एक भ्रमित करने वाली छवि बनादी। स्त्रियों के अनुभव, उनकी भावनाएं, उनकी इच्छाएं एवं उनके सपने सब दबाकर एक पुरूषवादी छवि बना दी गई। जबकि स्त्री की असली छवि और इस बना दी गई छवि में कोई आपसी तालमेल नहीं था। अतः शास्त्रिय नाटक एवं रंगमंच की नीतियों ने स्त्री की असली छवि को दबाने में और उस पर पितृसत्ता का मुखौटा चढ़ाने में काफी हद तक योगदान दिया।

इस सबके चलते पश्चिमी देशों मे स्त्रियों ने अपने घर की चारदीवारी के अन्दर ही अपनी अभिव्यक्ति के रास्ते तलाशने शुरू किये। जिसमें कुछ स्त्रियां एक स्थान पर इक्टठा होती और एक–दूसरे के लिए अपनी प्रतिभाओं का प्रदर्शन करती थी। जिसे निजी रंगमंच (Personal Theatre) का नाम दिया गया। भारतीय समाज में भी ये परिस्थितियां आज भी विद्यमान है। इस प्रकार स्त्रियों को अपनी अभिव्यक्ति एवं मनोरंजन का स्थान मिला। इसके बाद जब क्रान्तिकारी स्त्रीवाद (Radical Feminism) का समय आया तो धीरे–धीरे स्त्रियां साहित्य में , संगीत में, स्वास्थ्य में, रोजगार में एवं तकनीक में अपने विकल्प तैयार करने लगी। इसके चलते स्त्रियों ने यहां तक बाते करना शुरू कर दिया कि Women की स्पैलिंग Womyn या फिर Womin क्यूं नहीं है। क्योंकि Men लिखना उनकी नजर में अपने आपके Men पर अर्थात पुरूषों पर निर्भर करना था। इस विरोध और संघर्ष के चलते इस बात की स्वीकार्यता बनी कि पुरूषों के मुकाबले स्त्रियां प्रकृति के अधिक करीब हैं, इसलिए कला के भी अधिक करीब है। स्त्रियों में प्रकृति के

प्रति लगाव, संवेदनशीलता, आंतरिक्त शक्ति (Intution Power) ? प्रकृति के साथ अध्यात्मिक आदान–प्रदान पुरूषों की अपेक्षा अधिक होता है। स्त्रियां जीवन के भी अधिक नजदीक होती है, क्योंकि वे जीवन चक्र का हिस्सा है। जबकि पुरूष उस जीवन चक्र से पूरी तरह बाहर है। अपनी अक्रामक एवं सत्ताधारी छवि के कारण खुद की आत्मा को भी छू पाना भी पुरूषों के लिए स्त्रियों की अपेक्षा थोड़ा मुश्किल है। उस समय क्रान्तिकारी स्त्रीवादी (Radical Feminist) लोगों ने इस बात पर भी सोचना शुरू किया कि एक स्वतन्त्र इन्सान की अभिनय शैली क्या हो। क्योंकि उससे पहले रंगमंच पर स्त्रियों की भाव–भंगिमाओं मे गुलामी की दास्तां छिपी थी और पुरूषों की भाव–भंगिमाओं में मालिको का रोब होता था। भारतीय शिक्षा व्यवस्था में तो बच्चे को बचपन से ही कायदे के माध्यम से स्त्री पुरूष के बीच के भेदभावों को इस प्रकार परोस दिया जाता है। बच्चो को बकायदा चित्रों के माध्यम से बताया जाता है कि 'पापा ऑफिस जा रहे है', 'मम्मी रसोई में खाना बना रही है', 'राम फुटबॉल खेल रहा है' और 'सीता रसोई में मम्मी की मद्द कर रही है।' इन तमाम वाक्यों से स्पष्ट होता है कि बचपन से ही बच्चे की मानसिकता में वे पुरूषवादी तत्व भर दिए जाते है।

इस प्रकार पाश्चात्य रंगमंच की ऐतिहासिक यात्रा से पता लगता है कि स्त्रिवादी आन्दोलनों के संघर्षों और जद्दो–जहद ने पाश्चात्य रंगमंच की तस्वीर को तो बदला ही, समाज में सैक्स और जैन्डर को लेकर एक अच्छी खासी बहस भी छेड़ी। जबकि भारतीय समाज में आज भी यह बहस शैशवावस्था में है। भारतीय आधुनिक एवं शहरी रंगमंच मे तो आज फिर भी स्त्रियां लगातार आगे आ रही है। रंगमंचीय शिक्षा संस्थानों में स्त्रियां बड़े–बड़े ओधों पर जिम्मेदारियों की बागडोर सम्भाल रही है। वो चाहे अभिनय, संगीत, नृत्य, निर्देशन, लेखन, आलोचना आदि कोई भी क्षेत्र उनसे अछूता नहीं है। किन्तु समाज के जिस हिस्से से वे संबंध रखती है, वह बहुत ही संकुचित हिस्सा है।

रंगमंच पर स्त्रियों की सहभागिता के सवाल पर पूरा समाज एक मत हो सके, इसके लिए अभी कुछ संघर्ष एवं कुछ आन्दोलन लड़े जाने बाकि है। समाज में स्त्रीवादी आन्दोलन जितने मजबूत होंगे। रंगमंच पर स्त्रियों की भागीदारी उतनी ही तेजी से

सुनिश्चित होगी। पाश्चात्य लेखिका 'गैलीयन हान्ना ' का मानना है कि कोई भी सामाजिक क्रान्ति, स्त्रीवाद के बिना संभव नहीं और कोई भी स्त्रीवादी आन्दोलन समाजवाद के विना संभव नही। यह एक ऐसा संयोजन है जैसे– 'सटानिस्लावस्की' के 'मैथेड स्टाईल' का 'ब्रेख्त' के 'ऐपिक स्टाईल से जोड़ दिया जाए। 'मैथेड स्टाइल' स्त्री–पुरूष के भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक अन्तर संबंध को दिखा सकता है। तो 'ब्रेख्त' का 'ऐपिक स्टाईल' इसके सामाजिक महत्व को दर्शकों तक पहुंचा सकता है।

अतः जब तक हमारे समाज में लेखक बुद्धिजीवी, साहित्यकार, स्त्रियां एवं यूवा लोग आगे नहीं आऐगें, तब तक स्त्रियों के उस असली काम एवं असली छवि को सामने नहीं लाया जा सकता। जिसकों पुराने इतिहास ने दबा दिया है। स्त्रियों की इस छवि को दबाने की ऐतिहासिक प्रक्रिया से स्त्रियों की कला एवं उनकी प्रतिभा पर गहरा असर पड़ा है। अतः आज समाज मे जरूरत है कि इस ऐतिहासिक प्रक्रिया को पुर्नपरिभाषित किया जाए, ताकि हमारे लोक नाट्यों का भी उद्धार हो सके।

स्वॉग में दलितो का योगदानः–

आज से लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व आर्यों ने मध्य एशिया से आकर भारत में घुसपैठ की। उस समय इस सम्पूर्ण देश में अनार्य जातियां ही थी। आर्यों के आने के बाद उसी काल में ऋगवैद लिखा गया। ऋगवेद काल में दो ही वर्ण थे। एक आर्य और दूसरे अनार्य। सर्वप्रथम इस वर्गीकरण का आधार रंगभेद था। आर्य गौरे और अनार्य काल थे। दोनो शारीरिक रचना संस्कृति जाति और भाषा की दृष्टि से भी भिन्न थे। कालान्तर में वर्ण का अर्थ रंग मूलक न होकर कर्म और फिर जन्म मूलक हो गया। अतः यह स्पष्ट है कि ऋगवैदिक काल में अथवा आर्यों के आगमन के बाद दो वर्ग ब्राहम्ण और क्षत्रिय थे। उत्तर वैदिक काल 1000–500 ई.पू. में चार वर्णों – ब्राहम्ण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र की स्थापना हुई। अर्थववेद में इन चारों वर्णों का उल्लेख है। अर्थववेद उत्तर वैदिक काल की रचना है। इस काल में ब्राहम्ण एवं क्षत्रियों में आपस में उत्कृष्टता के लिए होड़ चलती रही जो, महाकाव्य काल तक जारी रही। अतः अर्थववेद में ब्राहम्णों को क्षत्रियों से श्रेष्ठ

घोषित किया गया और प्रत्येक वर्ग को अलग अलग संस्कार और कर्तव्यों में बांधनें का प्रयास किया गया। इस व्यवस्था में ब्राहम्ण पुरोहितों के बिना अर्पित की गई । राजाओं की आहूतियॉ देवताओं को स्वीकार्य नहीं मानी गई ब्राहम्णों को विशेषाधिकार देकर उन्हें मृत्युदंड से मुक्ति दी गई। यज्ञिक तथा पुरोहिती का कार्य उन्हें ही सौंपा गया। ब्राहम्णों की हत्या जघन्य अपराध माना गया। राज संचालन और सुरक्षा का भार क्षत्रियों को सौंपा गया, परन्तु उन्हें ब्राहम्ण वर्ग का शासक नहीं माना गया। क्षत्रिय राजाओं को अन्य तीन वर्णों का ही शासक माना गया। ब्राहम्ण वर्ग क्षत्रियों के लिए पिता के समान ठहराया गया। 'वैश्य' स्त्री के पुत्र का राजा के रूप में अभिषेक वर्जित किया गया। अतः इस वर्ण का कार्य कृषि उत्पादन, पशु पालन और व्यापार रखा गया। शूद्र का कार्य तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना रखा गया। यज्ञ के लिए शूद्रों को अयोग्य घोषित किया गया। अतः इस प्रकार भारत में आर्यों की थोपी गई, वर्ण व्यवस्था विश्व की अनूठी संरचना है। अतः हिन्दू समाज में जाति समूह आर्यों द्वारा प्रतिष्ठापित वर्ण व्यवस्था की ही परिणति है। हिन्दू धर्म जातियों का बेमेल संगम हो गया। ब्राहम्ण वर्ण के अन्तर्गत आने वाली जातियॉ – उपजातियॉ और सभी क्षत्रिय और वैश्य जातियॉ, शूद्र वर्गों के अन्तर्गत विकसित जातियों से श्रेष्ठ समझी जाती है।

यह भारत देश ही है जहां प्रकृति की अमूल्य धरोहर इन्सान मॉ की कोख से बाहर आते ही, ब्राहम्ण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र बन जाता है। जबकि उसे सांसारिकता का पता तक भी नहीं होता। कितनी विचित्र विडम्बना है कि बच्चा चाहे कितना भी गौरा हो, सुन्दर हो, स्वस्थ हो अथवा कितना भी कुशाग्र बुद्धि वाला हो, परन्तु यदि वह शूद्र की कोख से जन्मा है तो शूद्र ही कहलाएगा। अतः यह स्वाभाविक ही है कि, आर्यों द्वारा प्रतिष्ठापित इस वर्ण व्यवस्था से समाज का हर क्षेत्र प्रभावित होना ही था। इसलिए वह क्षेत्र इससे कैसा अछूता रह सकता था, जिसके उद्भव का श्रेय उन्हीं शूद्रों एवं दलितों को ही जाता है। जिनका तमाम भारतीय कलाओं को स्थापित करने में बहुत बड़ा योगदान रहा है। वेदों के बाद जिक्र आता है उस महान ग्रंथ का जिसको 'नाट्यशास्त्र' के नाम से जाना जाता है। वेद द्विजातिय थे। उन्होनें स्वर्णों एवं अवर्णों के बीच एक दीवार खींच दी और दूसरे वे धर्म ग्रंथ थे। केवल धार्मिक जनता के अराध्य थे, जो धर्म की मर्यादा को ही सर्वोपरि

मानते थे। किन्तु देश के अवर्णों ने कभी वैदिक यज्ञ–विधान को स्वीकार नहीं किया। 'नाट्यशास्त्र' के पहले अध्याय में जो दिव्य उत्पत्ति की कथा है, उसकी चर्चा करना भी यहां आवश्यक हो जाता है। बेशक गहन विमर्शों के बाद निष्कर्ष यही निकलता है कि दिव्य उत्पत्ति की यह अवधारणा सिर्फ अवैज्ञानिक ही नहीं अयथार्त भी है। अतः इसमें कोई दो राय नहीं कि दिव्य उत्पुत्ति की अवधारणा पौराणिक गाथा के सिवा कुछ विशेष नहीं है। दिव्य उत्पत्ति की वह कथा इस प्रकार है कि कुछ मुनिजन भरतमुनि से पूछते हैं कि नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति कैसे हुई। फिर वे बताते है कि शूद्रों के लिए वेदों का व्यवहार वर्जित था। शूद्र न तो वेदों का पाठ कर सकते थे, न ही सुन सकते थे। यहॉ तक कि गलती से भी अगर वेदों की ध्वनि भी शूद्रों के कानों में पड़ जाए तो वेद अपवित्र हो जाते थे। जिसके शुद्धिकरण के लिए उस शुद्र के कान में शीशा घोल कर डाल दिया जाता था। यह उसके शूद्र होने की सजा थी। एक दिन देवराज इन्द्र ने ब्रहम्हा से प्रार्थना की, कि कोई ऐसी विधा दीजिए जिसमें देखने और सुनने दोनों के गुण हो और जिसका प्रयोग हर वर्ग का व्यक्ति कर सके। तब ब्रह्मा जी ने पंचमवेद के रूप में नाट्यवेद की सृष्टि की। 'ऋक' से पाठ्य, साम से संगीत, यजुः से अभिनय और अर्थव से रसों का ग्रहण कर नाट्यवेद की रचना की।[36] अतः ऊपर कहा जा चुका है कि दिव्य उत्पत्ति की अवधारणा पौराणिक गाथा के सिवा कुछ विशेष नहीं है। दूसरी तरफ नाट्य शास्त्र के अस्तित्व में आने के बारे में डा. ब्रज बल्लभ मिश्र का मानना है कि प्राचीन काल में प्रदर्शन से पहले पूर्वरंग के स्थान पर नटों द्वारा ढ़ोल बजाकर शारीरिक व्यायाम के कौतुक दिखाने की परम्परा थी। नटों ने धीरे–धीरे अपनी वृति को विकसित करके इस कला के साथ जोड़ा और जब इस कला का शास्त्र लिखा गया तब नटों का शास्त्र होने के कारण नाट्यशास्त्र कहलाया। अतः स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के अस्तित्व के पीछे शूद्रों का ही योगदान था। उस दौर में शूद्र शब्द का जो अर्थ था, और आज जो शूद्र शब्द का अर्थ है, दोनों बिल्कुल भिन्न है। उस समय जो भी व्यक्ति चाहे किसी भी वर्ण का हो, स्वेच्छा से कार्य करता था तो उस पर आचरण–विरूद्ध कार्य करने का आरोप लगाकर उसे शूद्र करार दे दिया जाता था। किसी ब्राहम्ण या क्षत्रिय पुरूष और वैश्य स्त्री से कोई संतान

[36] डा. ब्रज बल्लभ मिश्र, भरत और उनका नाट्यशास्त्र, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, इलाहाबाद, 1988, पृ. – 48

उत्पन्न होती थी तो उसे भी वर्ण संकर होने के कारण शूद्र कहा जाता था। कोई ब्राहम्ण यदि अपने पुत्र का यज्ञोपवीत नहीं करा पाता था तो उसके बालक को शूद्र माना जाता था। जबकि आज शूद्र शब्द के मायने बिल्कुल भिन्न है।

कुछ भी कहों भारत के प्राचीनतम ग्रंथ वेद भारत में भावात्मक एकता स्थापित करने का काम करने में तो असमर्थ रहे ही बल्कि सांप्रदायिक तत्वों की जड़ भी साबित हुए है। अतः वर्ण व्यवस्था के कठोर काल में भरतों ने शूद्रों के अधिकारों के लिए पंचमवेद की सृष्टि की। भरतो की महानता इसी में थी की उन्होनें स्वर्णों की न निंदा की और न उनके प्रतिकूल कोई आचरण किया, उन्होनें स्वर्णों के खिलाफ एक ललित आन्दोलन छेड़ा। परिणाम स्वरूप चार वेदों के अलावा नाट्यशास्त्र की एक ऐसे पंचमवेद के रूप में परिकल्पना हुई। जिसे समाज के सभी वर्ग विशेष रूप से दलित वर्ग ही पढ़ सके। दूसरी तरफ भारतीय रंगमंच के स्त्रोत के रूप में रामायण और महाभारत जैसे जिन दो महाकाव्यों का सबसे बड़ा योगदान है। उनके रचियता क्रमशः बाल्मिकी और व्यास समाज के दलित वर्ग से ही संबंधित थे। बेशक उन्होनें अपने दोनो महाकाव्यों में समाज के उच्च एवं शासक वर्ग की जीवन गाथा का ही चित्रण किया।[37] दूसरी तरफ नाटक के पहले शास्त्र की रचना विशेष रूप से शूद्र अथवा दलित वर्ग के लिए ही की गई। इसलिए यह मात्र अकारण या संयोग नहीं है कि एक लम्बे अरसे तक मंच पर अभिन्य करने वाले लोग समाज के दलित वर्ग से ही आते थे और ऐसा हमारे अपने देश में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण पाश्चात्य रंगमंच पर भी होता रहा है। कई बार तो ऐसी स्थितियां भी आई कि जब चाणक्य जैसे विद्वान ने उपयुक्त तथ्य के प्रकाश में कलाकारों के नगर की सीमा के भीतर आवास पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया था। यह ईसा से महज चौथी शताब्दी से पहले की घटना है।[38]

मध्यकाल में जिस तरह के मौखिक, क्षेत्रिय और लोक रंगमंच का उद्भव और विकास हुआ, वह तो पूर्ण रूप से दलित वर्ग पर ही आश्रित था। ये लोग नाट्य मंडलियों के साथ गॉव दर गॉव घूम–घूम कर समाज के जमींदार, संभ्रान्त और धनाढ्य वर्ग का

---

[37] देवेन्द्रराज अंकुर, भारतीय नाट्य साहित्य में दलित चेतना, दलित साहित्य विशेषांक, उत्तर प्रदेश, सितम्बर–अक्टूबर–2002, पृ. – 49
[38] देवेन्द्रराज अंकुर, भारतीय नाट्य साहित्य में दलित चेतना, दलित साहित्य विशेषांक, उत्तर प्रदेश, सितम्बर–अक्टूबर–2002, पृ. – 49

मनोरंजन किया करते थे – भांड, मिरासी, मदारी, नक्काल अखाड़ेबाज और बाद में नौटंकी कलाकर – ये सब समाज के उन्हीं वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे, जिन्हें आज हम दलित के नाम से जानते है। इसके अलावा लोक–नाट्य शैलियों में ऐसी बहुत सी कथाएं मिल जाएगी जिनमें दलित चेतना को केन्द्र मे रखा गया है। उदाहरण के तौर पर हम गुजरात की भवाई–शैली में प्रचलित और खेली जाने वाली 'जस्मा–ओड़न' की कहानी का नाम ले सकते है। लोक शैलियों में दलित वर्ग और चेतना को अलग से महत्व दिए जाने के ठोस ऐतिहासिक कारण भी है। एक तो यही जैसा पहले कहा जा चुका है कि नाट्य विधा में आरम्भ से ही समाज के निचले वर्ग का ही प्रधान्य रहा है। मध्यकाल में यह भागीदारी और अधिक बढ़ गई, जब नयी शासन व्यवस्था ने नाटक और रंगमंच जैसी दृश्य विधा को ही लगभग सम्पूर्ण रूप से प्रतिबन्धित कर दिया। अतः यह स्वाभाविक ही था कि लोक शैलियों के आलेख और उसमें काम करने वाले लोग समाज के निचले तब्को से ही आते थे। हमारे देश में 'भाषा' जैसे संस्कृत भाषा के प्राचीन नाटककार और पश्चिम में लगभग उन्हीं के समकालीन 'यूरिपीड़ीज' जैसे यूनानी नाटककार के नाटकों को अपने युग में इसीलिए मान्यता नहीं दी गई। क्योंकि एक तो उन्होनें लीक से हटकर लेखन किया और दूसरे वे भी समाज के दलित वर्ग से ही सम्बन्धित थे।[39] भारतेन्दु और प्रसाद के युग में रचे गए और खेले गए पारसी नाटकों में भी ऐसे चरित्रों, प्रसंगों और घटनाओं का खूब वर्णन और चित्रण मिलता है। जब उसी दौर में मंच पर अभिनेत्रियों का आगमन हुआ तो वे भी समाज के उसी हिस्से से आयी जिन्हें तवायफ, मुजरेवाली या कोठेवाली कहा जाता है। अतः ऊपर लिखे गए तमाम तथ्यों के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि रंगमंच के उद्‌भव अथवा विकास में दलित लोगों का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उसे नकारा नहीं जा सकता। वह अलग बात है कि बाद में स्वर्णों ने उस पर अधिकार जमा लिया । अतः वास्तविकता यह है कि जब जब कला अपने चरम पर पहुंची हैं, अर्थात लोकप्रिय हुई है, तब तब उस पर अभिजात वर्ग का कब्जा हुआ है, और जब जब कला ने पतन की तरफ रूख किया है, उसे वंचित तब्को ने ही उबारा है।

---

[39] देवेन्द्रराज अंकुर, भारतीय नाट्य साहित्य में दलित चेतना, दलित साहित्य विशेषांक, उत्तर प्रदेश, सितम्बर–अक्टूबर–2002, पृ. – 49

अतःस्वॉग के संदर्भ में भी ऐसा ही कुछ कहा जा सकता है। राजराम शास्त्री के अनुसारस्वॉग के अस्तित्व मे आने से पहले नकल एवं मुजरे की परंपरा थी। जिसमे नकल करने वाले नक्काल एवं मुजरा करने वाली वैश्याएं उसी वंचित तब्के से ही संबंध रखते थे। जिनको समाज में अप्रतिष्ठा की दृष्टि से भी देखा जाता था। मनोरंजन के इन दोनों साधनो कोस्वॉग का स्वरूप देने में भी एक वंचित तब्के से संबंधित व्यक्ति किशन लाल भाट का ही योगदान सर्वमान्य है।स्वॉग अपने अस्तित्व में आने के बाद और पुरूषों द्वारा किये जाने के कारण लोकप्रिय होता चला गया। जैसे–जैसेस्वॉग ने लोकप्रियता की तरफ रूख किया, वैसे–वैसे कुछ स्वर्ण लोगों के मन में भी लोकप्रियता हासिल करने का विचार हिलोरे मारने लगा। पं. दीप चन्द का उदाहरण बहुत ही सटीक है कि जब पं. दीप चन्द कुरूक्षेत्र में किसी यजमान के यहॉ श्री मद्भागवत् का सप्ताह कर रहे थे। मेला लगा था और लोगों की भीड़ बैठी आनन्द लूट रही थी कि निकट ही कहीं से सारंगी और ढोलक की आवाज सुनाई पड़ी और लोग एक–एक कर उठने लगे। देखते ही देखते पण्डाल खाली हो गया। दीपचन्द एवं यजमान के अलावा पण्डाल में कोई न था। पण्डित जी को इस घटना से आघात पहुँचा। उन्होनें अपना पोथीपत्रा सम्भालना शुरू किया तो यजमान ने प्रार्थना की किन्तु पण्डित जी ने कहा – भैयाः अब तो हम भी वहीं जाएंगे, जहॉ जनता गई। घर जाते ही स्वॉग मंडली तैयार कर कार्य क्षेत्र में कूद पड़े। परिणाम स्वरूप दीपचन्द मांगेराम एवं लखमीचन्द जैसे कुछ ब्राहम्ण लोगों ने भी स्वॉग के क्षेत्र में प्रवेश किया। कुछ दलित कलाकारों की मंडलियां भी समानान्तर चलती रही। जिनमे बाजे भगत का नाम उल्लेखनीय है। परिणाम स्वरूप कुछ स्वर्ण कलाकार दलित कलाकारों से प्रतिद्वंदिता भी कर बैठते थे। जब हरियाणा में बाजे भगत की लोकप्रियता बढ़ने लगी तो पं. लखमी चन्द ने तो प्रतिद्वंदिता के कारण उनका नाम बाजे–भांड रख छोड़ा था और उन पर व्यंग्य करते हुए उन्होनें अपनी कविताई में यहां तक कह दिया था कि 'जा कूट तमाखू जाट का, तनै सार नहीं गाणे की'। किन्तु ऐसा भी नहीं है कि जिन स्वर्ण लोगों ने अपनी मंडलियां बनाई, उन मंडलियों में सभी कलाकार स्वर्ण थे। बल्कि अधिकांश कलाकार उनमें भी दलित वर्ग से ही थे। बस फर्क इतना था कि उन मंडलियों में

नेत्रत्वकारी भूमिका में अर्थात मंडली के मुखिया के रूप में वे स्वर्ण लोग होते थे। एक ही मंच पर स्वर्णों और अवर्णों की स्थिति भी भारतीय लोक नाट्यों में बहुत ही कम देखने को मिलती है। कालान्तर में नेत्रत्वकारी भूमिका में अधिकतर स्वर्ण जाति के लोगों ने पैर जमाये तो गाने, बजाने एवं नाचने वाले अधिकांश कलाकार दलित वर्ग से संबंधित होते थे। जिसमें शोषण की संभावनाएं भी लगातार बनी रहती थी। यह बात डॉ. पूर्ण चन्द्र शर्मा के इस कथन से भी स्पष्ट होती है कि चलते प्रदर्शन में गुरू अर्थात्स्वॉग प्रमुख जहां गायक या नृतक को 'वाह बेटे' कहकर प्रोत्साहन देता है, वहीं उनसे भूल हो जाने पर चलते प्रदर्शन में ही बेंत भी जड़ देता है। क्योंकि अधिकतर गुरू (स्वॉग प्रमुख) स्वर्ण वर्ग से होते है और गायक, नृतक, वादक सभी दलित वर्ग से। यहां तक कि मंडली के अन्य काम जैसे रसोई बनाना आदि भी दलितो के हिस्से ही आता है। क्योंकि स्वर्ण जाति के लोगों के लिए तो रसोई आ अन्य इस तरह का काम करना आत्मसम्मान का मुद्दा बन जाता है। जबकि दलित कलाकारस्वॉग में दोहरी भूमिका निभाते है।स्वॉग का सबसे बुनियादी काम गाना एवं साज बजाना और साथ–साथ बाकि जो समय बचता है उसमें रसोई बनाना व अन्य काम भी उन्हीं दलितों द्वारा ही किये जाते है। जबकि उन्हें मेहन्ताना एक काम का ही दिया जाता है। इस प्रकार आर्थिक तंगी के कारण ऐसे कलाकार लम्बे समय तक काम नहीं कर पाते औरस्वॉग मंडलिया छोड़कर देहाड़ी–मजदूरी करना बेहतर समझते है। परिणाम स्वरूपस्वॉग के प्रचलन एवं स्वॉगी कलाकारों की संख्या धूमिल हुई है।स्वॉग में जहॉ एक तरफ तो एक ही मंच पर स्वर्णों एवं अवर्णों की सहभागिता, दूसरी तरफ दलित कलाकारों द्वारा ही मंडली का खाना इत्यादि बनाना एक सकारात्मक पक्ष की तरफ इशारा करता है। किन्तु व्यवहारिक रूप में यह इतना सहज नहीं है। जाति आधारित इस ढांचे मे कहीं न कहीं भेदभाव निहित है। कुछ लोगों का मानना है कि एक ही मंच पर स्वर्ण एवं दलितों का एक साथ काम करना और दलितों द्वारा खाना बनाना तो एक सकारात्मक पक्ष है। जबकि ऐसा नहीं है कि दलित खाना बनाएं और स्वर्ण–अवर्ण साथ मिलकर उसका खाऐं। क्योंकिस्वॉग प्रमुख जो अधिकांश स्वर्ण होते है उनको खाने पर गांव के स्वर्णों द्वारा अलग से निमंत्रित किया जाता है। उनकास्वॉग मंडली की रसोई

से कोई संबंध नहीं होता। अतः कुछ मंडलियां ऐसी भी है जिनमें मुखिया भी दलित ही होता है।

अतः कोई भीस्वॉग मंडली दलित कलाकारों के बिना पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकिस्वॉग की शैली संगीतात्मक होने के कारण गायन एवं वादन पर आधारित होती है अर्थात यह संगीत पक्ष उन्हीं दलित कलाकारों पर ही निर्भर करता है, जिनको समाज में गाने–बजाने एवं नचाने वालों की संज्ञा दी जाती है। जहॉस्वॉग इन्ही गाने–बजाने एवं नाचने वालों के बिना अधुरा होता है, वहॉ समाज में इसी गाने–बजाने एवं नाचने की प्रवृति को हीन प्रवृति समझा जाता है और उन्हें अप्रतिष्ठा की नजर से भी देखा जाता है। कई बार तो यह 'सांगी' शब्द गाली के रूप में इस्तेमाल किया जाना भी कोई आश्चर्य की बात नहीं। गौरतलब यह है कि अभिजात वर्ग से संबंधित स्वॉग मुखियों को समाज में अप्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखा जाता, बल्कि उन्हें प्रतिष्ठित वर्ग द्वारा अधिक प्रतिष्ठा दी जाती है, और अपने आपको गौरवान्वित महसूस किया जाता है। अतः स्पष्ट है कि हमारे सामन्ती समाज की दृष्टि में अप्रतिष्ठा के पात्र भी वही है जो दलित भी है और स्वॉगी भी। जो सिर्फ स्वॉगी है, दलित नहीं उनको अप्रतिष्ठा की नजर से नहीं देखा जाता। जातिय आधार पर टिके इस ढ़ांचे में शोषण की संभावनाएं भी लगातार बनी रहती है। दलित कलाकार ही नहीं बल्कि दलित दर्शक भी इस जाति आधारित समानान्तर रूप से पिसता हुआ साफ नजर आता है। यह देवीलाल सामर के इस कथन से भी स्पष्ट होता है। वे सामुदायिक प्रदर्शन की तैयारियों की चर्चा करते हुए कहते है कि 'गॉव का रंगरेज निःशुल्क पोषाकें रंग देता है तो दर्जी निःशुल्क कपड़े सिल देता है। हलवाई अपनी तरफ से जलपान का प्रबन्ध करता है तो खाती रंगमंच बनाने में अपनी सेवाएं प्रदान करता है। इसी प्रक्रिया में गॉव का भंगी और भिश्ती आदि भी सफाई या छिड़काव करने में किसी से पीछे नहीं रहता। स्वॉग में स्त्री पात्रों की सहभागिता न होने के कारण यूवा दलित कलाकारों को ही स्त्री पात्रों की भूमिका निभानी पड़ती है। परिणाम स्वरूप पुरूष प्रधान समाज में उस कलाकार को सामाजिक अप्रतिष्ठा का सामना करना पड़ता है। क्योंकि एक अभिनेता अथवा कलाकार होना ही समाज में कलंक माना जाता है, जबकि वह तो सिर्फ अभिनेता ही नहीं दलित भी है, और स्त्री पात्र की भूमिका भी निभा रहा है।

राजाराम शास्त्री कहते हैं किस्वॉग का टकराव उत्पत्ति काल में ही वैश्याओं और नक्कालों से था, जिन्हें कभी सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। उन्हीं के साथ टकराव के कारणस्वॉगी भी समाज में जाने अनजाने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा खो बैठा। प्रतिष्ठित समाज नेस्वॉग को स्वीकार्यता दी तो सिर्फ इसलिए कि उनके पास मनोरंजन के लिए स्वॉग के अलावा विकल्प के तौर पर कोई अन्य साधन नहीं था। जबकि वास्तविकता यह है कि स्वॉग का मुजरे एवं नकल के साथ टकराव जैसी कोई बात थी ही नहीं। क्योंकि जैसा पहले भी बताया जा चुका है कि नकल एवं मुजरा करने वाले भी उसी तब्के से थे औरस्वॉग की शुरूआत भी उन्हीं लोगों द्वारा की गई। जबकि प्रतिष्ठित समाज की नजर में न तो नकल एवं मुजरा सभ्य था नस्वॉग, क्योंकि तीनों ही साधनों में उसी वर्ग की प्रधानता थी। तुलनात्मक रूप सेस्वॉग को अगर प्रतिष्ठा की नजर से देखा गया तो सिर्फ इसलिए कि स्वॉग के अस्तित्व में आते ही स्त्रियों को स्वॉग से बेदखल कर दिया गया। क्योंकि दलित स्त्रियों की दशा तो समाज में दलित पुरूषों की तुलना में और भी अधिक दयनीय रही है। अतः प्रतिष्ठित समाज की दृष्टि में स्वॉग की लोकप्रियता तब और बढ़ती गई जब अभिजात वर्ग के लोगों नेस्वॉग में घुसपैठ की। आचार्य भरत के समय में भी ब्राहम्ण या श्रेष्ठ कुलों के समाज में नाट्य को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता रहा है। मनुसमृति आदि ग्रंथों में स्पष्ट रूप से नाट्य आदि को श्रेष्ठ वर्णों के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता था, तथा इन्द्रिय सयंम एवं सात्विक जीवन के लिए नाट्य के निषेध की अनिवार्यता बतायी गई है। इससे स्पष्ट है कि उस समय भी नाट्य कलाकारों को समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था।[40]

इस प्रकार प्रतिष्ठित समाज ने एक कलाकार के इन्सानी अस्तित्व को नकारते हुए एक नाचने–गाने वाले की छवि प्रदान की। यही कारण है कि स्वॉगी कलाकार स्वॉग के समय ही जनता के सामने आते है, अन्यथा वे अपने डेरों में ही बने रहते है। स्त्रियों को हमेशा उपभोग की वस्तु समझने वाले पुरूष प्रधान समाज की कामुक दृष्टि स्वॉग में स्त्री पात्र की भूमिका निभाने वाले कलाकार को भला कैसे छोड़ सकती थी। उनका मजाक उड़ाना, उन पर अश्लील फब्तियॉ कसना आम बात हो गई थी। परिणाम स्वरूप दलित

[40] नाट्य और लोकनाट्यः अन्तर्क्रिया और विकास, भारतीय लोकनाट्य, पृ. – 27

कलाकारों का अपने अस्तित्व एवं छवि को बचाये रखने के लिए स्वॉग के क्षेत्र में आना धीरे–धीरे कम होता चला गया। इस प्रकार स्वॉग नाट्य विधा के गतिहीन होने के पीछे कलाकार की सामाजिक अप्रतिष्ठा एक महत्वपूर्ण कार

अध्यायः तीन

स्वॉग का आर्थिक–सामाजिक पक्ष :– जब हम किसी भी कला का समाजशास्त्रिय अध्ययन करते हैं तो उसके आर्थिक पक्ष को दरकिनार नहीं कर सकते। क्योंकि आार्थिक पक्ष किसी भी कला के लिए उतना ही महत्वपूर्ण हैं, जितना कला के लिए कलाकार का होना। प्रारम्भ में जब लोकनाट्यों का लक्ष्य सिर्फ जनता का मनोरंजन करना अधिक होता था तथा आर्थिक लाभ कमाना कम, ऐसी स्थिति में दर्शक–प्रदर्शक की उस मिली–जुली संस्कृति में अर्जित करना कम मायने रखता था। पहले स्वॉग देव पूजाओं, त्योहारो, मेलो एवं शादी–विवाहों के अवसर पर होता था इसलिए स्वॉग का मूल उद्देश्य जनता के मनोरंजन से ही जुड़ा था। किन्तु कालान्तर में स्वॉग की लोक प्रियता बढ़ने के कारण एवं स्वॉगी कलाकारों की आर्थिक स्थिति के कारण स्वॉग के उद्देश्यों में एवं प्रस्तुति के समय निर्धारण में कुछ परिवर्तन हुए। गॉव में फसल की कटाई के पश्चात अधिकांश लोगों की आर्थिक स्थिति काफी सुलझी हुई होती है। इसलिए देवपूजाओं, त्योहारों, मेलों एवं शादी–विवाहों के अवसरों के साथ–साथ फसल की कटाई के बाद का समय भी स्वॉग प्रस्तुतियों के लिए उपयुक्त समझा जाने लगा। क्योंकि ऐसे समय में दर्शक वर्ग दिल खोल कर चन्दा देते थे। दर्शकों में आपस में यह होड़ लगती थी कि कौन अधिक चन्दा देता है। जो अधिक चन्दा देता था, वह उसकी आर्थिक स्थिति, सम्पन्नता एवं प्रतिष्ठा का परिचायक था। परिणामस्वरूप स्वॉग का उद्देश्य आर्थिक लाभ कमाने की मन्शा से भी जुड़ गया। तत्पश्चात स्वॉग नाट्यविधा व्यवसाय के रूप में परिणत होती चली गई। अतःस्वॉग के इस व्यवसायिक ढ़ांचे पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। जैसा कि पहले भी चर्चा कर चुके है कि स्वॉग का प्रदर्शन आरम्भ से ही खुले स्थानों पर होता आया है, इसलिए उस पर किसी प्रकार का कोई टिकट नहीं लगाया जाता। स्वॉग मंडली को निमन्त्रित करने वाले गांव के लोग मंडली के खान–पान एवं यातायात के अतिरिक्त मेहनताना पहले से ही तय कर लेते है। अतः यह पारिश्रमिक कई प्रकार से निश्चित किया जाता है। जैसे गांव द्वारा मंडली को मौटे तौर पर एक रकम देना निश्चित करना या कुछ

कम रकम निश्चित कर, प्रदर्शन के समय जनता द्वारा चन्दे के रूप में दी जाने वाली रकम का एक भाग स्वॉग मंडली को देना या फिर केवल भोजन एवं यातायात का प्रबंध कर प्रदर्शन में आई समस्त रकम मंडली को देना या उसमें से कुछ भाग देना आदि। इस प्रकार मंडली का पारिश्रमिक गांव द्वारा कई तरह से निश्चित किया जाता है। स्वॉग का यह आर्थिक ढ़ांचा तो सामान्य परिस्थितियों में होता है , जब स्वॉग मंडली को केवल मनोरंजन के उद्देश्य से बुलाया जाता है। अन्य परिस्थितियों में यह आर्थिक संयोजन कुछ इस प्रकार होता है। स्वॉग लोक नाट्य का समाज में विकास में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है। केवल मनोरंजन की दृष्टि से देखा जाने वाला यह लोक नाट्य गांव एवं समाज के विकास में भी सशक्त भूमिका निभा सकता है, स्वॉग की इस क्षमता का आभास इसके व्यवसाायिक रूप लेने के पश्चात लोगों को हुआ। अतः गांव की जरूरतों के हिसाब से विद्यालय, अस्पताल, धर्मशाला, गऊशाला, कूंए, तालाब एवं गलियां आदि बनवाने के लिए भीस्वॉग मंडलियों को बुलाया जाता है। ऐसी परिस्थितियों में प्रदर्शन के दौरान आई कुल रकम का एक बड़ा भाग गांव के इन सुविधा साधनों को जाता है, बाकि हिस्सास्वॉग मंडली को जाता है। एक अन्य स्थिति में भी कई बारस्वॉग मंडली को निमन्त्रित किया जाता है। जब गांव में कोई गरीब व्यक्ति जो अपनी बेटी की शादी करने में असमर्थ है, तो ऐसी स्थिति में स्वॉग मंडली को इस उद्देश्य से बुलाया जाता है कि प्रदर्शन मे आने वाली रकम से उस गरीब व्यक्ति को विवाह मे आर्थिक सहयोग प्राप्त हो सकेगा, तब एक निश्चित कर दिया जाता है। शेष रकम या आय बुलाने वाले की होती है। इस प्रकार के प्रदर्शन प्रायः वंचित तब्कों के लोगो के यहॉ बुलाए जाते है। तब उनके यजमान अपनी परिस्थिति से बढ़कर चन्दा भेजते थे। इस प्रकार उनका विवाह आराम से सम्पन्न हो जाता था। ऐसे अवसरों पर न केवल नकद बल्कि वस्त्रों आदि के रूप में भी वे सहायता करते थे। कई बार कुछ मंडलियां खुद के हिस्से में से भी कुछ भाग गांव की सुविधाओं के लिए दे देती थी। ऐसा करने के पीछे अपने व्यवसाय को मजबूत करना और समाज में कार्यरत अन्य मंडलियों की अपेक्षा अपनी जगह सुनिश्चित करना उनका प्रमुख उद्देश्य था। इसके अलावा कुछ दानी दर्शको द्वारा इस सारी योजना से अलग अपने मन पसन्द अभिनेता को भी इनाम देकर प्रोत्साहित किया जाता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका

है कि फसल की कटाई के बाद दर्शक वर्ग में एक–दूसरें से अधिक चन्दा देने के लिए प्रतियोगिता होती है। असल में अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं सम्पन्नता को दिखाने के लिए भी ऐसा किया जाता है। क्योंकि स्वॉग में पहले से ही स्वॉग मुखिया द्वारा यह घोषणा कर दी जाती है कि जो सबसे अधिक चन्दा देगा, उसे स्वॉग के अन्तिम दिन सम्मानित किया जाएगा। अतः घोषणा के अनुसार जो अधिक चन्दा देता है, उसे सम्मानित भी किया जाता है।

अतः इस प्रकार स्वॉग का संगठनात्मक ढ़ांचा कुछ हद तक व्यापारिक अवश्य हो गया है किन्तु दर्शक– प्रदर्शक का मिला–जुला सहयोग, संवेदना, सौहार्द एवं भावनाओं का गठजोड़ बहुत सशक्त एवं सहज होता है। यही कारण है कि कुछ स्वांगियों के प्रयासों के बावजूद भी स्वॉग प्रदर्शनों को टिकटों पर दिखाये जाने को जनता स्वीकार नहीं कर सकी। उनमें 'चन्द्रदत बादी' का नाम उल्लेखनीय है। उन्होनें टिकटों पर स्वॉग करने का प्रयास किया। आरम्भ में कुछ सफलता भी मिली किन्तु स्वेच्छा से धन न्यौछावर करने वाली जनता इस प्रतिबंध को स्वीकार न कर सकी। अतः उन्हें टिकटों के आधार पर स्वॉग बंद कर खुले मैदान में आना पड़ा। क्योंकि दान देकर स्वॉग देखने वाला दर्शक–वर्ग टिकट लेकर मनोरंजन करना पसन्द भी नहीं करता और इससे सम्मिलित संवेदनाएं और भावनाएं भी दर्शक–प्रदर्शक के बीच नहीं रहती। किन्तु दर्शकों की रूचियों के बदलते वर्तमान दौर में दर्शक–प्रदर्शक का यह रिश्ता बहुत ही कमजोर हो गया है। परिणाम स्वरूप स्वॉग मंडलियों की आर्थिक स्थिति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। गांव मेंस्वॉग मंडलियां ही बहुत कम रह गई है।स्वॉग कलाकारों को मजबूरन मंडलियां छोड़ अन्य क्षेत्रों में देहाड़ी–मजदूरी के लिए जाना पड़ा रहा है। यह एक विडम्बना ही है कि साज बजाने वाले हाथों को कस्सी एवं कुलहाड़ी उठानी पड़ रही है। क्योंकि हमारे देश में सांस्कृतिक आकादमियों का उद्देश्य भी कला को संरक्षण देना है न कि कलाकार को। वे भी भूल जाते है कि कलाकार की आर्थिक स्थिति सुधारे बिना वे किसी कला को संरक्षित नहीं कर सकते। परिणामस्वरूप स्वॉग लगातार पतन की तरफ अग्रसर है। किन्तु हरियाणा में पिछले दिनों स्वॉग की निरन्तरता को बनाए रखने के लिए विश्वविद्यालयों के स्तर पर एक उत्साह देखने को मिल रहा है। जनवरी, 2009 में हरियाणा के कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय

में लोक नाट्यों को लेकर एक बड़ा उत्सव किया गया। जिसमें पूरे उत्तर भारत के लोक नाट्य प्रस्तुत किए गए। जिसमें स्वॉग के स्तर पर एक नया प्रयोग सामने आया। विश्वविद्यालयों में यह स्वॉग विद्यार्थियों द्वारा प्रस्तुत किया गया। जिसमें छात्राओं की सहभागिता भी देखने को मिली। प्रस्तुति में इतनी परिपक्वता नहीं थी, किन्तु यह प्रयोग अपने आप में एक बड़ा प्रयोग है। विश्वविद्यालयों के इस प्रयोग के पीछे अगर उनकी मन्शा वास्तव में यह है कि वर्षों से मंच से वंचित स्त्रियों को सांस्कृतिक मंच प्रदान करना है तो यह एक सराहनीय प्रयास है , अन्यथा इस प्रयोग से विपरीत परिणाम भी सामने आ सकते है।

किन्तु इस प्रयोग की सकारात्मक बात यह है कि यूवा उत्सवों में स्वॉग के खेले जाने से व्यवसायिक कलाकारों की आर्थिक स्थिति पर अवश्य गहरा एवं सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। क्योंकि विद्यार्थियों को स्वॉग तैयार करने के लिए उन्हीं व्यवसायिक कलाकारों को बुलाया जाता है जिनकी स्वॉग के क्षेत्र में निरन्तरता टूट चुकी थी और जो इस कला में पारंगत है। अतः आर्थिक दृष्टि से यह प्रयोग सराहनीय कहा जा सकता है। किन्तु समग्रता में इस प्रयोग के परिणाम भविष्य में आने बाकि है। अतः समय के साथ–साथ स्वॉग का संगठनात्मक ढ़ांचा व्यवसायिक हो गया है। कुछ गैर सरकारी संस्थाओं एवं कुछ व्यक्तियों का इस पर नियन्त्रण हो गया है। इस सारी प्रक्रिया से गुजरते हुए व्यक्तिगत तौर पर एक कलाकार को जरूरत के अनुसार पारिश्रमिक नहीं मिल पाता परिणाम स्वरूप स्वॉग के व्यवसायिकरण के कारण भी स्वॉग में नए कलाकारों का आगमन स्थिर हो रहा है।

स्वॉग में सांस्कृतिक राजनीतिक गठजोड़ :– कला एवं संस्कृति का राजनीति से बड़ा गहरा रिश्ता होता है। कोई भी कला एवं संस्कृति राजनीति से अछूती नहीं रह सकती। अलग–अलग दौर में विभिन्न विचार धाराएं अलग–अलग उद्देश्यों के साथ सांस्कृतिक माध्यमों का इस्तेमाल करती रही है। कला का काम है समाज को उसका वास्तविक चेहरा दिखाना और सकारात्मक दिशा प्रदान करना। समाज को सही दिशा देने के लिए

राजनीति अगर सांस्कृतिक माध्यमों का इस्तेमाल करती है तो इसमें कुछ गलत नहीं हैं, किन्तु हमारे देश में व्याप्त विभिन्न विचार धाराएं कलाओं का इस्तेमाल किस दिशा में एवं किस उद्देश्य से कर रही हैं, इसके प्रति कलाकार को सचेत होने की जरूरत है। क्योंकि हमारे समाज में कलाकार की ऑखों पर कभी राष्ट्रीयता का कभी धर्म का तो कभी सांस्कृतिक विकास का चश्मा चढ़ाकर अपनी स्वार्थपूर्ती के लिए कला एवं कलाकार का इस्तेमाल किया जाता रहा है। स्वॉग का भी राजनीति के साथ कुछ ऐसा ही रिश्ता रहा है। समय–समय पर विभिन्न विचार धाराएं स्वॉग का अपने हक में इस्तेमाल करती रही है। किन्तु अधिकतर स्वॉगी कलाकार निरक्षर होने के कारण इस रिश्ते को ठीक–ठीक परिप्रेक्षय में कभी नहीं देख पाया। वह कभी अपने आपको राष्ट्र भक्त तथा कभी धर्म रक्षक की भूमिका में देखकर गौरवान्वित महसूस करता रहा है। आम जनता जब अपने कला माध्यमों का इस्तेमाल सत्ता के खिलाफ एवं अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के तौर पर करे तो समझ में आता है, किन्तु आम जनता की कला का उन्हीं के खिलाफ इस्तेमाल सत्ता द्वारा किया जाए तो स्वार्थ पूर्ति एवं कूटनीति के अलावा इसे कुछ नहीं कहा जा सकता। 1917 की सोवियत क्रान्ति के ठीक बाद मजदूरों के राज्यों में युद्धों के कठिन वर्षों में रंगमंच की नुक्कड़ शैली को माध्यम बना कर आम जनता द्वारा दिमाग को झकझोर देने वाली पॉच लाख प्रस्तुतियॉ की गई। अनेक देशों में उनके इतिहास की नाजुक घड़ियों में नुक्कड़ नाटकों का इस्तेमाल किया गया। स्पेन में गृह युद्ध के दौरान, वियतनाम में जापानी, फ्रांसीसी और अमेरिकी हमलावरों के विरूद्ध 45 वर्षों के लम्बे युद्ध के दौरान, क्यूबा में क्रान्ति के तत्काल बाद और पूरे लेतिन अमेरिका व अफ्रीका में राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के दौरान। अमेरीका में मैक्सिकी खेत–मजदूरों और हब्शियों के बीच संघर्ष और संगठन के साधन के रूप में नुक्कड़ नाटकों का इस्तेमाल किया गया।[41] भारत में भी IPTA और जन नाट्य मंच द्वारा आर्थिक–सामाजिक असमानता, राजनीतिक भ्रष्टाचार और सांस्कृतिक पिछड़ेपन के खिलाफ संघर्ष किया गया।

---

[41] प्रज्ञा, नुक्कड़ नाटक : रचना और प्रस्तुति, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, 2006,

अतः स्वॉग का भी नुक्कड़ नाटकों की तरह इस्तेमाल होता रहा है। फर्क सिर्फ इतना है कि नुक्कड़ नाटकों का इस्तेमाल शोषित जनता द्वारा किया गया औरस्वॉग का इस्तेमाल सत्ताधारी लोगों द्वारा किया गया। प्रथम विश्व युद्ध के समय सैनिकों की भरती के लिए सरकार ने सर्वाधिक इस्तेमाल स्वॉग का ही किया। राजाराम शास्त्री ने इस तथ्य को उद्घाटित करते हुए लिखते है कि 'सन् 1914 ई. में विश्वयुद्ध के दौरान इंगलैंड और जर्मनी का भयंकर युद्ध छिड़ गय। उस समय ब्रिटिश सरकार को भारतीय सैनिको की आवश्यकता पड़ी। देश पराधीन था और स्वदेशी आन्दोलन से विदेशी राज्य के प्रति खिलाफत की भावना बढ़ती जा रही थी। अंग्रेज सरकार इस स्थिति से अवगत भी थे। अतः वह ग्रामीण जनता को सेना मे भरती करने के नए–नए साधन तलाशने लगी। उन साधनों में वीर रसपूर्ण स्वॉगों के द्वारा युवाओं को युद्ध में भरती करना भी एक साधन हो गया। लोक नाट्य लिखने व खेलने वालों को सरकारी पुरस्कार दिया जाने लगा। युवाओं को सेना मे भरती अथवा उन्हें उत्साहित करने के लिए नाट्यकारो को सरकार की और से प्रोत्साहन दिया गया। हरियाणा और उत्तर प्रदेश कोस्वॉग खेलने वाली मंडलिया इस काम में लाई गई। अतः लोक नाट्य कला को राज्य और नेता दोनों को ओर से प्रश्रय प्राप्त हुआ।' हरियाणा में उस समय पंडित दीप चन्द की मंडली का विशेष स्थान था। अतः ब्रिटिश सरकार द्वारा दीप चन्द की मंडली के स्थान–स्थान पर प्रदर्शन करवाएं गये। स्वॉग के बीच–बीच में युवको को भरती के लिए प्रोत्साहित करने के लिए वे सामुहिक रूप से निम्नलिखित रागनी गाया करतेः–

टेकः– भरती होले रै, तेरै बाहर खड़े रंगरूट।

आडै मिलै तनै टूटे लितर, ओडै मिलै फुल बूट।
आडै मिलैं तनै पाट्टै चिथड़े, ओडै मिलैगे सूट।
आडै मिलै तनै सूखे टिककड़, ओंडै मिलैं बिस्कूट।
आडै मिलै तनै धक्का–मुक्की, आडै मिलै सैल्यूट।
भरती हो ले रै, तेरै बाहर खड़े रंगरूट।।[42]

[42] राजाराम शास्त्री, हरियाणा का लोकमंच, लोक संपर्क विभाग हरियाणा,

और रागनी की समाप्ति के तुरन्त बाद युवको द्वारा भरती होने की घोषणा कर दी जाती। भरती अफसर जो इस अवसर की प्रतीक्षा में वहां उपस्थित रहते थे, रात को ही युवको को पंक्तिबद्ध खड़े होने का निर्देश देते और भरती होने के इच्छुक युवको की तुरन्त कतार लग जाती। भरती अधिकारी उसी समय कद और छाती आदी की माप–तोल कर युवकों को वहीं से छावनी के लिए चलता कर देते। युद्ध की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार ने पंडित दीपचन्द को राय बहादुर की उपाधि से विभूषित किया और पारितोषिक से सम्मानित भी किया। इसके अतिरिक्त 23 फरवरी, 1963 से 27 फरवरी, 1963 तक डिप्टी कमिशनर संगरूर पंजाब ने भी भरती के लिए स्वॉगी चन्द्रलाल बादी से प्रदर्शन कराए और परिणाम स्वरूप भारी संख्या में नौजवान सेना में भरती हुए। अतःस्वॉग के सामर्थय के प्रति बिल्कुल नकारवाद नहीं है, निश्चित तौर परस्वॉग में बहुत सामर्थय है। किन्तु विचार करने की बात यह है कि 1857 की क्रान्ति में जिस ब्रिटिश सरकार ने भारत देश को पराधीन बनाया, उसी ब्रिटिश सरकार के पक्ष में 1914 मे प्रथम विश्व युद्ध के दौरान हरियाणा केस्वॉगी कलाकारों ने भूमिका निभाई। और आश्चर्यजनक बात यह है कि इस प्रकृति को राष्ट्रीय चेतना से जोड़ कर देखा गया।

एक समय तक गॉव के विकास के लिए स्वॉग मंडलियों को निमन्त्रित किया जाता था। जैसे विद्यालय, अस्पताल, चौपाल, कूएं–तालाब एवं गलियां बनवाने में स्वॉग की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अतः इसमें कोई दो राय नहीं कि स्वॉग ने समाज के विकास में सराहनीय भूमिका निभाई है। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात जब–जब बी. जे. पी. सरकार सत्ता में आई तब–तब हरियाणा मेंस्वॉग का इस्तेमाल समाज के विकास से हटकर केवल गऊशालाएं बनवाले पर केन्द्रित हो गया। इसके पीछे की राजनीति को भी समझने की आवश्यकता है। गौरतलब यह है कि हिंदुत्ववादी लोग गौ–संरक्षण के लिए जिनस्वॉग मंडलियों का इस्तेमाल करते रहे हैं, उनमें उन्हीं अछूत एवं दलित लोगों की भरमार हैं, जिनका गौ–मांस से एक रिश्ता रहा है। क्योंकि अछूतपन और मृत गौ के उपयोग का संबंध इतना अधिक एवं इतने करीब का है कि इसे 'अछूत पन' का कारण मानने की बात लगभग अकाट्य प्रतीत होती है। दूसरी और यदि कोई चीज अछूतों को हिन्दुओं से प्रथक करने वाली है तो वह गौ–मांस आहार है। यदि हिन्दुओं के निषिध

भोजन संबन्धी नियमों का अध्ययन किया जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि भोजन के संबंध में दो निषेधाज्ञाएं हैं, जिनसे विभाजक रेखा खिच जाती है। एक विशेषाज्ञा तो मांस न खाने की। इससे हिन्दुओं के दो भाग हो जाते हैं । शाकाहारी और मासाहारी। दूसरी निषेधाज्ञा गौ–मांस खाने के विरूद्ध है। इससे भी हिन्दुओं के दो विभाग हो जाते है – वे जो गौ–मांस खा लेते है तथा वे जो गौ–मांस नहीं खाते। अछूतपन की दृष्टि से पहली विभाजक रेखा का कोई महत्व नहीं, किन्तु दूसरी का है। क्योंकि यह 'छूतो' को 'अछूतों' से सम्पूर्ण रूप से प्रथक खड़ा कर देती है। क्योंकि छूत चाहे शाकाहारी हो चाहे मांसाहारी गौ–मांस का निषेध करने में एक मत है। अछूत उनके विरूद्ध है। जो गौ–मांस खा लेते है– बिना किसी अनुपात के और सामान्य अभ्यास से। अतः वास्तव में गौ–मांसाहार, 'अछूतपन' का प्रधान कारण होने के संबंध में किसी प्रकार की कोई कल्पना करने की आवश्यकता नहीं।[43]

ऐसा भी नही है कि स्वॉग मंडलियों में काम करने वाले दलित सभी गौ–मांस खाते होंगे। किन्तु उनमें से कुछ तो अवश्य खाते होंगे। मांस नहीं खाते होंगे तो चमड़े का काम अवश्य करते रहे होंगे। क्योंकि स्वॉग वर्ष में बारह महीने नहीं चलता। अतः कुछ विशेष अवसरों के अलावा बाकि बचे महिनों में उन्हे पेट पालने के लिए दूसरे काम करने ही पड़ते है और दूसरी तरफ गौ–संरक्षण के लिए उन्हीं दलित स्वॉगी कलाकारों का इस्तेमाल समानान्तर चलता रहता है। किन्तु वही निरक्षर दलित स्वॉगी इस बात से अनभिज्ञ होते है कि उन्हे अछूत बनाने वाले लोग ही उनका अपने हक में इस्तेमाल कर रहें है। हिन्दू धर्म के रक्षक शायद इस बात को जानते है। किन्तु वे ये भी जानते है कि अकेले मंडली के मुखिया सेस्वॉग प्रदर्शन संभव नहीं है। अतः वे लाचार तो है ही मगर दलितों का एवं उनकी कला का इस्तेमाल भी कर रहें है।

स्वॉग के इस्तेमाल का एक अन्य उदाहरण और है जो उपर लिखित दोनों उदाहरणों से अलग है। वह उदाहरण है हरियाणा के कुछ गैर सरकारी एवं प्रगतिशील संस्थाओं का। हरियाणा में आर्थिक–सामाजिक असमानता, राजनैतिक भ्रष्टाचार एवं सांस्कृतिक पिछड़ापन अन्य प्रदेशों से कुछ ज्यादा ही है। इसलिए 'हरियाणा ज्ञान –

[43] डा. भीमराव अम्बेडकर, अछूत कौम और कैसे, आनन्द साहित्य सदन, अलीगढ़, 2008, पृ. – 100

विज्ञान समीति' एवं 'जन नाट्य मंच कुरूक्षेत्र' जैसे कुछ सामाजिक संगठन लम्बे समय से सांस्कृतिक आन्दोलन के माध्यम से संघर्षरत है। चाहे स्त्री–पुरूष बराबरी का मामला हो, चाहे वंचित तब्को के अधिकारों का मामला हो, चाहे साम्प्रदायिक ताकतों के विरोध का मामला हो या वर्तमान दौर में सम्मान के नाम पर हो रही युवाओं की हत्या का मामला हो, ये संगठन लगातार सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष कर रहे है। ये संगठन सामाजिक बदलाव एवं सामाजिक हस्तक्षेप के लिए स्वॉग का इस्तेमाल कर रहें है। किन्तु इनके उद्देश्यों और उपर दिए गए उदाहरणों में काफी अन्तर है। ये संगठन स्वॉग लोक नाट्य की शैली को माध्यम बनाकर समाज के अन्तरविराधों हो बेनकाब कर रहे है। जो तुलनात्मक रूप से एक सकारात्मक प्रयास है। इस प्रकार के सांस्कृतिक–राजनैतिक गठजोड़ से समाज का विकास तो है ही, साथ ही पतन की तरफ जाते स्वॉग लोक नाट्य को गतिशील बनाने में भी सहायक सिद्ध हो सकता है।

स्वॉग में अश्लीलताः– जैसा कि पहले चर्चा की जा चुकि है कि स्वॉग के उद्भव से पहले नकल एवं मुजरे को भी संकीर्णता की दृष्टि से देखा जाता था। स्वॉग के अस्तित्व में आने के पीछे भी इन्हीं दोनो स्त्रोतो का बहुत बड़ा योगदान है। अतः नकल एवं मुजरे की अपेक्षा समाज में स्वॉग को स्वीकार कर लेना स्वभाविक ही था। स्वॉग को स्वीकार्यता दी गई तो सिर्फ इसलिए क्योंकि स्वॉग के अस्तित्व में आते ही स्त्रियों को स्वॉग से बेदखल कर दिया गया। क्योंकि स्वॉग से पहले वेश्याओं द्वारा स्वॉग किए जाते थे जिनमें पुरूष पात्रों की भूमिका भी स्त्रियॉ ही निभाती थी और जिसमें श्रृंगारिक तत्वों की भी भरमार होती थी। जिन तत्वों का प्रभाव कालान्तर में स्वॉग पर भी दृष्टिगोचर होना स्वभाविक ही था। जो भद्र समाज की दृष्टि मे अश्लील तो था ही दुराचार का विस्तार भी था। स्वॉग को अश्लील कहने के पीछे एक दूसरा कारण था –स्वॉग में नकल के प्रभाव से कथा के बीच कुछ अभद्र एवं द्विअर्थी संवादों का प्रचलन। क्योंकि स्वॉग के अस्तित्व में आने से पहले नक्कालों द्वारा की जाने वाली नकलों का विषय नकलों की अप्रतिष्ठा का मूल कारण था। कालान्तर में स्वॉग में भी नकलों का प्रभाव जारी रहा। राजा राम शास्त्री

के शब्दों में – 'कि नक्काल जिस थाली में खाते थे उसी थाली में छेद करते थे ' अर्थात जिनके द्वारा उनको निमन्त्रित किया जाता था व कुछ भद्र–अभद्र एवं द्विअर्थी संवादो के माध्यम से उनकी भी खिल्ली उड़ाए बिना नहीं रहते थे। अतः अभद्र एवं द्विअर्थी संवाद जोस्वॉग ने नकलों से ग्रहण किए अथवा श्रृंगारिक तत्व जो स्वॉग ने मुजरे से ग्रहण किये, इन दोनो ही कारणों सेस्वॉग को भी अश्लील प्रदर्शन माना जाने लगा।

कला का काम होता है जीवन की वास्तविकताओं को मंच पर प्रस्तुत करना। अतः जीवन के अन्य पहलुओं की तरह श्रृंगार तत्व को भी बिना किसी भेदभाव के स्वॉग प्रस्तुत करता था। परिणाम स्वरूप तथाकथित सुधारवादी वर्ग की दृष्टि में स्वॉग की श्रृंगारवादिता पर अश्लील का ठप्पा लग दिया गया और अप्रतिष्ठा की नजर से देखा जाने लगा। तब कहीं जाकर कुछ स्वर्ण लोगों के हस्तक्षेप से स्वॉग में कांट–छांट करके उसे सभ्य बनाने के प्रयास शुरू हो गए। किन्तु दूसरी तरफ जनसाधारण श्रृंगारिक तत्वों एवं द्विअर्थी संवादो का विरोध नहीं था। श्रृंगारपरक कथाएं एवं मजाकिया संवाद आम जनता द्वारा पसन्द कीए जाते थे। यही वजय थी कि कुछ स्वर्ण लोग भी उस श्रृंगारवादिता से अछूते नहीं रहे। उनमें लखमी चन्द का नाम उल्लेखनीय है। लखमी चन्द ब्राहम्ण वर्ग से संबंध रखते थे। उन्होने आरम्भ में नौ श्रृंगारपरक स्वॉगों की रचना की, किन्तु आर्य समाज द्वारा उनका भी विरोध करना स्वभाविक ही था। परिणामस्वरूप उन्होने उस सनातनी समाज में लोकप्रिय होने के लिए चौदह अध्यात्मपरक स्वॉगों की रचना की। इस प्रकार अपने श्रृंगारपरक कथानकों के कारण वे युवाओं में तो प्रसिद्ध थे ही, बाद में अध्यात्म परक स्वॉगों के कारण बुजुर्ग एवं सनातनी समाज में भी उन्होने खूब प्रसिद्धि हासिल की। अतः यह स्पष्ट है कि नकल, मुजरा, एवं स्वॉग को अश्लील बताए जाने पीछे समाज के किस वर्ग का हाथ था। आर्य समाज ने अपने सनातनी एवं ब्राहम्णवादी दृष्टिकोण के चलते प्रस्ताव पारित करके स्वॉग प्रदर्शनों पर प्रतिबन्ध भी लगाया। किन्तु श्लीलता–अश्लीलता वर्ग–सापेक्ष होती है। जैसे देहात में लोग परस्पर प्रेम एवं संबंधो का माधुर्य जताने के लिए गाली भरे संवादों का प्रयोग करते है। डा. हरदेव बाहरी के अनुसार सांस्कृतिक स्तर के भेद से भी श्लीलता का स्तर बदल जाता है। ग्रामीण और नागरिक, सभ्य और असभ्य, शिक्षित और अशिक्षित की वाणी में अन्तर होता है। गांव के लोग जिन शब्दों को दिन में अनेक बार बोलते नहीं

थकते, सुसंस्कृत व्यक्ति उन्हें कभी मूंह पर नही लाते। व्यक्तिगत संस्कृति से भी श्लील–अश्लील का अन्तर बना रहता है। डा. दुर्गादत का कहना है कि लोकनाट्यों का नैसर्गिक रूप अब जनता के सामने आ रहा है। उन्हे अब प्राचीनता में नवीनता, नीरसता में सरसता एवं कृत्रिमता में नैसर्गिकता दिखाई देने लगी है। यदि कुछ लोगों को लोक–साहित्य में अनर्गलता एवं अश्लीलता का अंश दिखाई देता है तो यह उनकी संकुचित मनोवृति का ही परिणाम है। साहित्य में कुछ भी श्लील या अश्लील नहीं होता।[44] असल में स्वॉग को अश्लील बताने वालों की उद्देश्य स्वॉग को श्रृंगार से अध्यात्म की और ले जाना रहा है। दूसरी तरफ हमारे लोकनाट्यों में जात्रा जैसे उदाहरण भी है। जात्रा जैसी नाट्य–विधाओं का धार्मिक कर्मकांडों से निकलकर सामाजिक घटनाओं से जुड़ना लोकनाट्यों के इतिहास में एक क्रान्तिकारी घटना है। जात्रा में यह परिवर्तन कथानक ही नहीं प्रस्तुतिकरण में भी दृष्टिगोचर हुआ। जबकि स्वॉग के संदर्भ में बिल्कुल विपरीत परिणाम सामने आए। आरम्भ में स्वॉग का स्वरूप धार्मिक कर्मकांडिय एवं अध्यात्मपरक नहीं था। स्वॉग में ऐतिहासिक, सामाजिक, काल्पनिक कथाओं के साथ–साथ श्रृंगारिक कथाओं पर आधारित कथानक भी होते थे। किन्तु आर्यसमाज के विरोध और कुछ स्वर्णों के स्वॉग में हस्तक्षेप से सनातनी एवं ब्राहम्णवादी मानसिकता दृष्टिगोचर होने लगी। अतः श्रृंगार से अध्यात्म की तरफ रूख शायद ही किसी लोक नाट्य में मिले। रामलीला, रासलीला, यक्षगान, अंकियानार एवं दशावतार आदि धार्मिक लोकनाट्यों को छोड़कर तमाम लोक नाट्यों में इस तथाकथित सभ्य समाज की दृष्टि में दुराचार का विस्तार था। महाराष्ट्र के तमाशा एवं उत्तर प्रदेश की नौटंकी में तो अभद्र एवं द्विअर्थी संवादों की खूब भरमार रहती है। जबकि हरियाणा में तो रामलीला पर भी स्वॉग का ही असर रहता है। क्योंकि स्वॉग मंडलियों द्वारा ही रामलीला भी खेली जाती है। अतः लोक नाट्य एवं उनके तत्व अभिजात वर्ग के प्रतिकूल होते है। अभिजात वर्ग उन्हे अपने योग्य नहीं समझता। सामान्ती समाज व्यवस्था में लोक नाट्यों का संबंध श्रमशील एवं जनसाधारण से होता है, जबकि धार्मिक लोक नाट्य प्रायः मध्यकालीन सामन्ती अभिप्रायों का ही अनुकरण करते है। वे दर्शकों के अन्दर रूढ़ हो चुके मन्तव्यों के लिए कोई चुनौति

[44] आलोचना, जनवरी–1956, पृ. – 73

पैदा करते। जबकि मध्यकालीन भक्त कवियों की भक्तिविष्यक रचनाएं अपने सामाजिक सरोकारो के प्रति अधिक संवेदनशील है और उनका रूढ़ि और विद्रोही तेवर बहुत प्रखर एवं क्रान्तिकारी है। उनकी रचनाओं में राम और कृष्ण अवतार होने से ज्यादा मनुष्य हैं, और उनकी भूमिका अन्याय के संगठित विरोध की है। रामलीलाओं और रासलीलाओं में अन्य लोकनाट्यों की इन छवियों को आत्मसात नहीं किया। धार्मिक लोकनाट्यों द्वारा प्रचारित भक्ति में यथास्थिति के प्रति सवाल पैदा करने की सजगता नहीं बल्कि सामन्ती आदर्शों का महिमामंडन करना है। उन्हीं धार्मिक लोकनाट्यों की तुलना में सभ्य समाज को स्वॉग, तमाशा एवं नौटंकी जैसे लोक नाट्य अश्लील प्रतीत होते है और वे उनको छील–तराश कर उनका शुद्धिकरण करने में लगे रहते है। जैसा कि पहले चर्चा की जा चुकी है कि स्वॉग को अश्लील बताने के पीछे मुख्य रूप से दो कारण रहे है, एक श्रृंगारिक तत्वों की भरमार, दूसरा अभद्र एवं द्विअर्थी संवाद। श्रृंगार पर तो हम चर्चा कर ही रहे हैं कि प्रेम जीवन का परम तथ्य है, जिसका व्यापकता अक्षुष्ण है। यह भावों का सम्राट है।

विश्व का अधिकांश साहित्य श्रृंगार की पीयूस धारा से परिसिक्त होकर अनादिकाल से सहृदयों के आलौकिक आनन्द का साधन बनता आया है, और अनन्त काल तक बना रहेगा। इसे असभ्य एवं अश्लील करार देकर हेय बताना कला का ही तिरस्कार नहीं, अपितु जीवन का भी तिरस्कार है। जिसका प्रतिनिधान हम कला में पाते है।[45] प्रसिद्ध रंगकर्मी एवं नाट्यकार विजय तेन्दुलकर का कथन है कि 'कलात्मकता के अभाव में मेरे लिए पुण्यस्थल भी अश्लील हो सकते हैं, और किसी के लिए स्त्री–पुरूष को लेकर उठाए गए स्वाभाविक सवाल भी अश्लील हो सकते है। किसी भी चीज का कला के बीच फालतू लगना अश्लीलता है। जो स्थिति बनावटी है, जो केवल प्रलाप है, वह अश्लील है। विषय तो कोई भी अपने आप में अश्लील नहीं होता।[46] अतः स्वॉग की अश्लीलता से जुड़े उस दूसरे कारण पर चर्चा करेंगे। वह कारण है स्वॉग में अभद्र एवं द्विअर्थी संवाद। किसी विचारात्मक परिकल्पना तक पहुंचने के लिए यह जानना आवश्यक है कि लोकनाट्यों में

[45] डा. संसार चन्द्र, संक्षिप्त बिहारी, 1965, पृ. – 32
[46] साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 14 मार्च 1976, पृ. – 39

अभद्र एवं द्विअर्थी संवादो के लिए जगह कैसे बनी। हजारों सालों से लगातार कचली जाती रही जनता मे सत्ताधारी एवं सामन्ती वर्गों की अमानवियता पर चोट करने का साहस हमेशा विद्यमान होता है। गुलामी का नारकीय जीवन जीने के लिए अभिशप्त शासक वर्गों के दया–धर्म पर आश्रित जनता उनके ढ़ोंग को अच्छी तरह जानती है। अतः देवपूजाओं , उत्सवों, त्यौहारों और मेलों आदि के अवसरों पर अपने गीतों और नाट्यों में वही आम कलाकार सामन्तों , जमींदारों, पुरोहितों एवं साहूकारों आदि के जनविरोधी चरित्रों पर सीधे चोट करते है। इन्हीं अवसरों पर उनकी विरोध चेतना खुलकर प्रकट होती है।[47] यह सिर्फ भारत ही नहीं ऊँच–नीच के भेद को मानने वाले तमाम दूसरे देशों में भी शोषक वर्ग के प्रति शोषित वर्ग द्वारा अपनी अभिव्यक्ति को प्रकट करने का यही तरीका रहा है। योरोप में मध्यकालीन दौर में वर्ष में तीन महीने चलने वाले –कार्नीवल उत्सव' में भी जनसाधारण द्वारा वर्षों की पीड़ा के दर्द को अभिव्यक्त करने का यही तरीका सबसे सटीक था। जिसमें सामन्ती वर्ग के लोगों के भौंडे चरित्र प्रस्तुत करके एवं उन पर अभद्र एवं द्विअर्थी व्यग्यों की बौछार करके उनकी खिल्ली उड़ाई जाती थी। इस पूरी प्रक्रिया में सामन्ती लोगों का विरोध एवं आलोचना के स्वर होते थे। अतः विरोध की प्रवृत्ति देवपूजाओं, उत्सवों, त्यौहारों एवं मेलो से गुजरते हुए लोक नाट्यों तक पहुंची और जिनका विरोध इन लोकनाट्यों में किया जाता था, उन्हीं सामन्ती लोगों द्वारा ही स्वॉग को अश्लील करार दिया गया। स्वॉगों पर अश्लीलता आरोपण के प्रत्युत्तर में प्रख्यात स्वॉगी धनपत सिंह का कथन है कि ' जो लोग स्वॉगो पर अश्लीलता का आरोप लगाते है। उन्होने या तो छोटी–मोटी मंडलियों के स्वॉग देखे होगे या नौटंकी देखी होगी या फिर कुछ भी न देखकर यूं ही अनुमान लगा लिया होगा। हमारे स्वॉगों में श्रृंगारिकता का अंश इतना ही मिल सकता है कि कभी नकली कोई हंसी की बात कह देता है, कभी – कभी स्त्री पात्र की भूमिका में हमारा कोई कलाकार नाच करते समय नेत्रों एवं ढूंगों को एक अदा के साथ मटका देता है। यदि इसी बात को लोग अश्लीलता कहते है तो कहे हम नहीं जानते। इन पढ़े–लिखे लोगों की कलम हम अशिक्षित लोगों पर ही उठती है। सिनेमाओं में पुरूष का स्त्री को अपनी भूजाओं में कस लेना, चुम्बन करना तथा ऐसे वस्त्र

[47] वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, जातिय संस्कृति : स्वरूप और संघर्ष, भारतीय लोकनाट्य, पृ. – 16

पहनाना जिससे शरीर के अंग स्पष्ट दिखाई देते हो, वह अश्लील नहीं लगता और हमारे सीधे–साधे खेल पर अश्लीलता का आरोप लगाते है।[48] उपर प्रस्तुत विचार भी एक अशिक्षित एवं वंचित तबके से संबन्धित कलाकार के है। अतः लोकनाट्यों को अश्लील बताकर अभिजात वर्ग बड़े सुनियोजित ढंग से जन साधारण की कला को उसकी जड़ों से काटकर उसमें पतनशील तत्वों को भरने का काम कर रहा है। अतः अभिजात वर्गों में जनसाधारण की गुलामी का चाहे जो भी रूप रहा हो, जनसाधारण की कलाएं उसकी विरोधी भावनाओं को व्यक्त करती रही हैं, और करती रहेंगी।

स्वॉग का व्यावसायिकरण और वर्तमान परिदृश्य :–स्वॉग के व्यावसायि करण के कई रूप रहे है। जिन्होने अलग – अलग समय मे अलग – अलग परिस्थितियां उत्पन्न की है। एक समय था जब स्वॉग सामाजिक स्तर पर ही खेले जाते थे। अनेक सामाजिक प्रतिभाएं मिलकर प्रदर्शन को सफल बनाती थी।स्वॉग के लिए एक खास तरह का मंच होता था, प्रदर्शन संबन्धी सामग्रियां भी सामुहिक रूप से ही जुटाई जाती थी। अभिनेता अपनी वेशभूषाएं स्वयं लाते थे। संगीतकार अपनी सार्वजनिक भूमिका निभाने के लिए साजों के साथ अपनी सेवाएं देते थे। गॉव का प्रत्येक व्यक्ति अपने पेशे के अनुसार स्वॉग प्रदर्शन को परिपुष्ट बनाने के लिए बढ़–चढ़कर अपनी सेवाएं देता था। गॉव का रंगरेज निःशुल्क पोशाके रंग देता था तो दर्जी निःशुल्क कपड़े सीता था। रोशनी वाला नाई निःशुल्क रोशनी का प्रबन्ध करता था तो गॉव का हलवाई निःशुल्क जलपान का प्रबन्ध करता था। खाती मंच बनाने में निःशुल्क सेवाएं प्रदान करता था। अर्थात प्रदर्शन सामाजिक स्तर पर ही होता था। कलाकार खुलकर अपना प्रदर्शन करते थे और उनकी अभिन्यात्मक कमजोरियों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। दर्शक–प्रदर्शकों के बीच सहानुभूति की जगह बनी रहती थी। वर्ष में कम से कम एक बार स्वॉग करने के लिए समितियॉ बनती थी। सामाजिक स्तर पर ही चंदा इकट्ठा किया जाता था। गॉव के अनेक कलाकारों को रंगमंच पर आकर अपनी प्रतिभा दिखाने का मौका मिलता था। गॉव

[48] डा. पूर्ण चन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. – 154

के कुछ बुजुर्ग जो स्वॉग की रागनियों व संवादो को सुरक्षित रखते थे, असल में वे स्वॉग परंपराओं के रक्षक की भूमिका निभाते थे। प्रत्येक स्वॉग एवं रागनी का एक–एक शब्द उनको कंठस्थ होता था। इस अवसर को सार्वजनिक त्यौहार की तरह से मनाया जाता था। इस प्रकार सामाजिक स्तर पर होने वाले ये स्वॉग जन–रूचि को सहज ही पकड़ लेते थे। कभी–कभी स्वॉगो के सफल प्रदर्शनों के लिए कुछ मंजे हुए गायको और नृतकों को बुलाया जाता था। ये कलाकार आस–पास के गॉवों के ही होते थे, जो मंजे हुए कलाकार के रूप में समाज में अपनी जगह बना चुके होते थे। जनता उनका नाम सुनकर ही कोसो दूर से उमड़ पड़ती थी। ऐसे कलाकार अपनी कलात्मक अदायगी से ज्यों–ज्यों प्रसिद्ध होते जाते थे , जनता की आंखो के तारे हो जाते थे। अतः इसी लोकरूचि के कारण वे कलाकार अपनी स्वॉग मंडलिया स्वयं बना लेते थे और पहले से प्रचलित स्वॉगों में अनेक प्रकार के रंग भरकर उन्हें अत्यधिक आकर्षक बना देते थे। इस प्रकार लोकरूचि के कारण गॉव के लोग उन कलाकारों की सेवाएं सशुल्क उपलब्ध कराकर पास के गॉव या शहर से उनको बुला लेते थे। इस प्रकार इस व्यवसायिक प्रयोग से स्वॉग का स्वरूप और सौन्दर्य अधिक सुगठित हो जाता था। इस प्रक्रिया से स्वॉग के अपरिपक्व हिस्से भी परिपक्व हो जाते थे, और समाज के अनेक बिखरे हुए कलाकार स्वॉग को अपना व्यवसाय बना लेते थे। इस प्रकार अनेक मंडलियों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा भी दृष्टिगोचर होने लगती थी। इस प्रकार नाटको को अधिक आकर्षक बनाने के लिए रंगमंचीय साधनो में एवं नाट्य शैली में परिवर्तन उन मंडलियो के लिए आवश्यक हो जाता था। स्वॉग के इस व्यवसायिकरण से सामाजिक सरोकार तो द्वितीय श्रेणी में अवश्य पहुंचा है किन्तु कलात्मकता के लिए एक जगह अवश्य बनी है। इतना ही नहीं कलाकार रोजी–रोटी की दृष्टि से भी आत्मनिर्भर हुआ है। किन्तु यं व्यवसायिक मंडलिया औपनिवेशिक काल के चलते जन–रूचि को लम्बे समय तक नही पकड़े रह सकी। डॉ. वशिष्ठनारायण त्रिपाठी के शब्दो में 'भारत जैसे देश में लोक संस्कृति एवं लोक कलाओं के स्वरूप और संघर्ष को समझने का अनिवार्य संदर्भ है –

औपनिवेशिक पूंजीवाद द्वारा जारी उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों को समझना।[49] जो लोक जीवन को उसकी सामूहिक चेतना, स्वभाविक

मनुष्यता और सामाजिक विवेक से काटकर उसे विकलांग बना रही है। विश्व की साम्राज्यवादी शक्तियॉ प्रारम्भ से ही इस विषय में स्पष्ट होती है कि जिस देश को पराधीन बनाए रखना है, उसे उसके समस्त जीवित शक्ति स्त्रोतो से काट दो। इसी उद्देश्य से अंग्रेजी शासकों ने बड़े सुनियोजित ढंग से भारतीय लोक जीवन की बुनियादी जड़ो को काटने का प्रयास किया। भारतीय मध्यम वर्ग जो ब्रिटिशकालीन औपनिवेशिक पूंजीवाद की उत्पत्ति था, उनके बाद उस भूमिका को बखूबी निभा रहा है। यही कारण है कि अंग्रेजी राज्य में लोक भाषा एवं लोक कला रूपों को भारी अवरोधों का सामना करना पड़ा। नगरीय समाजों में इन्हें अशिक्षित, गंवार एवं असभ्य जनता की कला के रूप में जाना गया। अंग्रेजो के जाने के बाद भी ब्रिटिश पूंजी के सरपरस्त भारत में बने रहे। आर्थिक–सामाजिक विकास की योजनाओं में ब्रिटिश पूंजी के साथ–साथ पूंजीवादी देशों की पूंजी का वर्चस्व भी बढ़ता रहा। कर्ज और अनुदान के इन सिलसिलों ने देश की आर्थिक समप्रभुता की संभावनाओं को भारी धक्का पहुचाया। परिणामस्वरूप आज भारत की समस्त आर्थिक–राजनीतिक शक्तियॉ विश्व पूंजीवाद के हाथों में खेल रही है। ऐसे में वे देशी शासक–वर्गों को एजेन्ट के रूप में नियोजित कर सबसे पहले लोक संस्कृति पर धावा बोलते है। आधुनिक इलैक्ट्रोनिक मीडिया, सिनेमा तथा अन्य प्रसार माध्यमों के अलावा लोकगीतो और लोकनाट्यों में आई विकृतियों के यही कारण है। अतः लोकनाट्यों एवं लोक कलाओं के प्रति उनका रवैया उसके विकास या परिष्कार का न होकर उपभोग का होता है। चाहे लोक नाट्यों को लोक जीवन से काटकर शास्त्रीय नाटको में शामिल करने का मामला हो, चाहे सिनेमा व आधुनिक रंगमंच के विकास के लिए लोकनाट्यों के इस्तेमाल का मामला हो, चाहे संरक्षण के नाम पर नाट्य संस्थानों एवं अकादमियों द्वारा की गई पहल कदमियों का मामला हो, इन सभी के पीछे असल में लोकनाट्यों का उपभोग करने की मंशा के अलावा और कुछ नहीं है। महाराष्ट्र के लगभग सभी

---

[49] वशिष्ठनारायण त्रिपाठी, भारतीय लोकनाट्य, जातिय संस्कृति : स्वरूप और संघर्ष

लोकनाट्यों के सामुदायिक स्तर से उपर उठ कर व्यवसायिक स्तर पर पहुँच जाने एवं सौन्दर्यशास्त्रीय पक्षों में परिपक्वता के पीछे एक तो कारण यह है कि जनसाधारण का कलात्मक स्तर औसत से ऊपर उठ गया है। किन्तु दूसरा कारण यह भी है कि महाराष्ट्र के दक्षिण पूर्व के कोकंण क्षेत्र का दशावतार विशिष्ट कलाकारों और शास्त्रज्ञों से संपर्क से इसी तरह व्यावसायिक नाटकों में परिवर्तित हो गया। दक्षिण भारत के यक्षगान और कथकली नाटक भी अपने लोकधर्मी स्वरूप को छोड़कर कालान्तर में व्यावसायिक और शास्त्रीय नाटको में तबदील हो गए। पहले यही नाट्य रूप गॉव के खुले वातावरण में लोगो के सहयोग से प्रस्तुत किये जाते थे। बाद में इन्हीं लोकनाट्यों की छान–बीन करके उन्हे शास्त्रोक्त नाट्य का दर्जा देकर विकसित शास्त्रीय नाट्यों की संज्ञा दे दी गई। क्योंकि हमारे देश में गलती से रंगमंच की कसौटी नाट्यशास्त्र बन गया है। जबकि भारतीय लोकनाट्यों का अस्तित्व तो नाट्यशास्त्र से भी कहीं पहले का है। लोकनाट्यों को नाट्यशास्त्र के आधार पर शास्त्रीयता प्रदान करने की होड़ लोकनाट्यों को लोकजीवन से काट कर व्यावसायिक जरूर बना रही है, किन्तु इसे लोकनाट्यों का विकास कहना जरा मुश्किल है। खैर जैसे–तैसे स्वॉग तो अभी इन शास्त्रों के परपंच से बचा हुआ है।

किन्तु सिनेमा के प्रभाव से तो अछूता न रह सका। अभी स्वॉग ठीक–ठीक अवस्था में संभला भी नहीं था कि, सिनेमा ने उस पर छापामार हमला बोल दिया। स्वॉग ही नहीं सिनेमा ने संसार भर के रंगमंच पर अपना विस्तृत प्रभाव डाला, परन्तु और देशों ने अपने साहित्य की सजीवता, अभिनय की प्रवीणता आदि से अपने रंगमंच की रक्षा कर ली। किन्तु उभरता हुआ भारतीय लोक रंगमंच एवं स्वॉग सहसा बैठ गया। ऐसा नहीं कि सिर्फ सिनेमा ने ही लोक नाट्यों को प्रभावित किया, बल्कि लोकनाट्यों ने भी सिनेमा को प्रभावित किया। किन्तु एक–दूसरे को प्रभावित करने की इन दोनों प्रभाव धाराओं ने विपरीत दिशाओं की ओर रूख कर लिया। जहॉ हिन्दी सिनेमा के विकास में स्वॉग, नौटंकी, भांड, जात्रा, लावणी, तमाशा, भवाई आदि पारंपरिक लोकनाट्यों का विशेष योगदान रहा। वहॉ हिन्दी सिनेमा ने इन लोकनाट्यों को गतिहीन करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। सिनेमा और लोकनाट्यों के इसी आपसी आदान–प्रदान से लोकनाट्यों को

पतन की तरफ रूख करना पड़ा और सिनेमा उन्ही लोकनाट्यों से तत्व ग्रहण करता हुआ अबाध गति से विकास करता रहा। सिनेमा का विकास गॉव के विकास एवं शहरीकरण के कारण भी अधिक संभव हुआ है। तेजी से बदलते जीवन मूल्यों के साथ–साथ हरियाणा का जन–जीवन नागर–सुविधाओं को पाने के लिए प्रयत्नशील है। गॉव–गॉव में बिजली पहुॅच जाने और यातायात सुगम एवं सर्वसुलभ होने के कारण गॉव के लोग नगरों में सिनेमा एवं अन्य मनोरंजनकारी विधाओं का आनन्द लेने के लिए आ–जा सकते है। घर–घर में रेडियों एवं गॉव–गॉव में टेलीविजन हो गए है। अतः यहॉ गॉव के विकास से कोई आपत्ति नहीं जतायी जा रही है। विकास होना चाहिए, किन्तु यहॉ सिनेमा के विकास में सहायक माध्यमों पर चर्चा करना भी आवश्यक है। सिनेमा भी अपने आप में एक कला है, इसलिए यहां मकसद सिनेमा को करघटे में खड़ा करना नहीं हैं बल्कि उसके पीछे की मानसिकता को सही परिप्रेक्षय में देखने की जरूरत है। ज्यों–ज्यों सिनेमा का विकास एवं विस्तार हुआ, त्यों–त्यों स्वॉग पर खास तौर से उसकी लोकधुनों पर गहरा प्रभाव पड़ा। एक समय था जब लोकविधाएं बम्बईया सिनेमा को धुने देती थी, किन्तु बाद में लोक नाट्यों में ही सिनेमाई धुनों का इस्तेमाल होने लगा। परिणाम स्वरूप लोक धुनों का अस्तित्व खतरे में है। उदाहरण के तौर पर साठ के दशक में आई 'शराबी' फिल्म का 'मेरा नौलखा मंगादे हो, हो संइया दिवाने' नामक गीत हरियाणा लोक गीत 'मेरादामण सिमादे हो,हो नन्दी के बीरा' पर आधारित है। इस तरह के उदाहरणों से स्पष्ट है कि सिनेमा लगातार लोकनाट्यों के तत्वों का उपभोग करता रहा है। किन्तु सिनेमा के खूब प्रचार–प्रसार के बाद स्वॉग में ही फिल्मी धुनों का इस्तेमाल होने लगा। अतः इस आदान–प्रदान से सिनेमा का तो विकास हुआ किन्तु स्वॉग के मूल्य में काफी गिरावट आयी। दर्शकों को इस बात से मतलब नहीं होता कि कथा में क्या चल रहा है और क्या–नहीं , अर्थात स्वॉग में कौन सा किस्सा चल रहा है। अगर दस–पन्द्रह मिनट के अन्तराल पर कोई फिल्मी गीत या फिल्मी धुन पर आधारित कोई लोक गीत और साथ में नृत्य पेश न किया जाए तो दर्शक बेचैन हो उठते है। सिनेमा में लोक धुनो का इस्तेमाल करना गलत नहीं है, अगर उसके पीछे मकसद लोक नाट्यों का विकास करना या उनकी पहचान बनाना हो। यह सही बात है कि लोक धुनो पर कॉपी राइट का अधिकार किसी

एक व्यक्ति का नहीं होता, इसलिए उनके इस्तेमाल की स्वीकृति संभव नहीं है किन्तु कहीं न कहीं यह दर्ज जरूर होना चाहिए। ताकि नई पीढ़ी के युवाओं को पता हो कि यह धुन लोकनाट्यों से सिनेमा में गई है, न कि सिनेमा से लोक नाट्य में। उदाहरण के तौर पर छत्तीस गढ़ की लोक धुन 'सास गारी देवे' का इस्तेमाल पिछले साल रिलीज हुई फिल्म 'दिल्ली–6' में किया गया। इस धुन का इस्तेमाल 'हबीब साहब' अपने रंगमंच में बहुत पहले कर चुके थे। किन्तु जिन यूवाओं ने फिल्म के बाद हबीब साहब का नाटक देखा तो उन्हें लगा कि नाटक में फिल्मी धुन का इस्तेमाल किया गया है। अतः सिनेमा में लोक धुनो के इस्तेमाल के पीछे सिर्फ पैसा कमाना मकसद न हो, उन धुनो के अस्तित्व को बचाने की तरफ भी ध्यान दिया जाए। अन्यथा ये लोक धुने –गुमनामी के अन्धेरे में गुम होकर अपना अस्तित्व न खो बैठे। क्योंकि लोक नाट्यों की तुलना में सिनेमा का प्रचार–प्रसार इतना अधिक है कि सिनेमाई धुन का स्वॉग मे इस्तेमाल तुरन्त दर्शकों को पहचान में आ जाता है। जबकि सिनेमा में लोक धुनों के इस्तेमाल पर बहुत ही कम सुगबगाहर सामने आती है। अधिकांश यूवा पीढ़ी तो उसे सहज ही फिल्मी धुन कह कर सम्बोधित करने लगती है। जिस प्रकार आज की पीढ़ी के शहरी बच्चो से पूछा जाता है कि बेटा दूध कहा से आता है ? तो बच्चे का जवाब होता है जी मदर डेयरी से। लोक नाट्यों के उपभोग का यह मसला सिर्फ लोक धुनों तक ही सीमित नहीं है बल्कि लोक भाषा एवं हास्य भी इसी दायरे में आते है, जिनका फिल्मों एवं धारावाहिको में धड़ल्ले से उपभोग किया जा रहा है। इस मामले में हरियाणवी भाषा अपने अख्खड़पन के कारण वर्तमान समय में सिनेमा में सबसे ज्यादा पैंठ जमाए हुए है। अतः फिल्म निर्माता एवं निर्देशक इन लोक तत्वों का व्यावसायिक इस्तेमाल करें किन्तु इनकी पहचान धूमिल न हो।

आधुनिक रंगमंच की अगर बात करें तो उसमें लोकनाट्यों का उपभोग दो तरह से किया जा रहा है। आधुनिक युग में स्वॉग अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। पारसी रंगमंच, सिनेमा और अब दूरदर्शन आदि माध्यमों ने स्वॉग को लगभग बेदखल कर दिया है। पूंजीवादी समाज में व्यावसायिक दबावों के कारण यह संघर्ष ओर कठिन हुआ है। धार्मिक लोकनाट्य व अन्य लोक नाट्य भी इस चुनौतियों से परे नहीं है। जनता की

रूचियों को विकृत बनाने वाली परिस्थितियॉ इन्हें पतन की तरफ ले जा रही है। यद्यपि समकालीन रंगमंच ने अपनी रंग क्षमता के लिए लोकनाट्यों की सर्जनात्मक संभावनाओं को पहचाना है तथा उनसे रचनात्मक संवाद कायम करने की कौशिश भी की है। इस प्रक्रिया में वे सबसे पहले लोकनाट्यों में अवशिष्ट मध्य युगीनता से संघर्ष करते है। हबीब तनवीर, शांता गांधी, गिरीश कार्नाड जैसे आधुनिक रंगकर्मियों ने मध्ययुगीन कथाओं को समकालीन परिप्रेक्षय में पुनर्रचना का महत्वपूर्ण काम किया है। इन रंगकर्मियों ने लोकनाट्यों को आधुनिक प्रौद्योगिकी के साधनो से और अधिक सक्षम और सर्जनात्मक बनाने का काम भी किया है। यही दिशा सही मायनों में समकालीन रंगमंच को अधिक गतिशील और प्रभावी बना सकती है। समकालीन रंगमंच की रंगक्षमता नाट्यशास्त्रीय नाट्य रूढ़ियों के साथ–साथ लोकनाट्यों के प्रभावी रंगविधानों से एक खूबसूरत सर्जनात्मकता सामने आ सकती है। इसे लोकनाट्यों का सकारात्मक इस्तेमाल कह सकते है। इसी सकारात्मक इस्तेमाल के अन्तर्गत 24 अक्टूबर 1975 को धनपत सिंह कृतस्वॉग 'ज्यानी चोर' एवं शाही लक्कड़ हारा का प्रदर्शन हबीब तनवीर के निर्देशन में लोक–सम्पर्क विभाग हरियाणा के कलाकारों द्वारा वैश्य महाविद्यालय रोहतक के थियेटरनुमा हाल में किया गया। हालांकि वह नया प्रयोग हरियाणा के लोक कलाकारों को कुछ जमा नहीं, शायद इसकी यही वजय हो सकती है कि उनको इस तरह के प्रयोगों की आदत नहीं। डा. पूर्ण चन्द शर्मा तो इस प्रदर्शन की समीक्षा में लिखते है कि 'प्रदर्शन में न स्वॉग के अनुरूप मंच था और न ही वेशभूषा एवं संगीत नृत्य जोस्वॉग को अधिक आकर्षक बनाता है, बिल्कुल नदारद था। प्रदर्शन यों डगमगा रहा था मानो शहरी लिबास में गुचमुच छः इंच ऊंची एडी के जूते पहनकर कोई ग्रामीण महिला संभल–संभल कर चलने पर भी अपने को संभाल न पा रही है'।[50] पं. लखमीचन्द के सुपुत्र तुलेराम स्वॉगी की दृष्टि में भी हबीब तनवीर के ये नए कलात्मक प्रयोग जमें नहीं। उनके अनुसार 'हबीब साहब ने वृताकार मंच बनाया और निचाई पर कुछ साजिन्दों को बिठाया। परिणाम यह हुआ कि साजिन्दों और अभिनेताओं का तालमेल टूट गया, और संगति नहीं बन पायी। दूसरे दर्शकों एवं कलाकारों में भी दूरी के कारण तारतम्य नहीं बन पाया। वे कहते है कि स्वॉग

[50] डा. पूर्ण चन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ. – 151

के प्रदर्शन से हरियाणा का लोक जीवन तथा उसकी संस्कृति नहीं झलकी तो वह बेकार है। फिर उसे कौमी नाटक कहलाने का कोई हक नहीं। यदि घाघरे की जगह सलवार और बैलबॉटम ले रही है तो इसका यह मतलब नहीं कि सतरंगे घूम–घाघरे स्वॉग प्रदर्शन से निकाल दिये जाएं।

अतः स्पष्ट है कि हबीब साहब के इस प्रयोग को हरियाणा में स्वीकृति नहीं मिली। किन्तु मेरे विचार में इसे इतना रूढ़ होकर देखने की भी जरूरत नहीं है। साजिन्दों और अभिनेताओं में तालमेल अथवा अभिनेताओं और दर्शको के बीच तालमेल न होना मात्र पूर्वाभ्यास का आभाव भी हो सकता है और यह एक नया प्रयाग था, इसे प्रयोग की तरह से ही देखना चाहिए। वह सम्पूर्ण रूप से परिपक्व हो, यह क्या जरूरी है। अतः इस प्रकार की समीक्षा करने से पहले हबीब साहब की मंशा पर अवश्य विचार करना चाहिए था। मात्र छोटी–छोटी गड़बड़ियो से यह नहीं भूलना चाहिए कि हबीब साहब के काम में लोक कलाकार एवं उसकी जीवनशैली पूर्ण रूप से झलकती है। क्योंकि कुछ अन्य रंगकर्मियों द्वारा भी इस तरह के प्रयोग किये जा रहे है, किन्तु उन प्रयोगों में न तो लोक कला झलकती है न ही लोक कलाकार। उन प्रयोगों में लोक कला को मात्र फैशन के तौर पर प्रदर्शन को सजाने–संवारने के लिए किया जाता है। जिनमें लोक कलाकार को एक बंधक की तरह से बिठा दिया जाता है, वह न तो खुलकर अपनी कला का प्रदर्शन ही कर पाता है न ही उस नए रंग–विधान से कोई रिश्ता ही कायम कर पाता है। नीलम मान सिंह, त्रिपुरारी शर्मा एवं संजय उपाध्याय आदि आधुनिक नाट्यप्रयोगी लोक नाट्यों को लेकर प्रयोग करते रहते है, जो कभी सफल रहते है तो कभी असफल भी। इस तरह के प्रयोगों में बुनियादी शर्त यह होनी चाहिए कि नाट्य प्रयोगियों द्वारा लोकनाट्यों का उपभोग की दृष्टि से और सिर्फ व्यावसायिक इस्तेमाल की दृष्टि से न देखा जाए। जिस प्रकार सेटेलाइट चैनल्स, सिनेमा और फूहड़ रंगमंचीय प्रस्तुतियों द्वारा बनाए जा रहे वातावरण में लोकनाट्य व्यावसायिक होने का नया तर्क खोज रहे है। इसी तरह नाट्य प्रयोगियों का संघर्ष भी उतना ही कठिन है। व्यावसायिक प्रभावों के विरोध का ठीक–ठीक रास्ता उनके पास भी नहीं है। इन प्रभावों के कारण जनता की हीन और प्रतिगामी रूचियों का सामना भी उन्हें करना पड़ता है। दूसरी तरफ व्यावसायिक सिनेमा, रंगमंच और दूरदर्शन के

प्रायोजित कार्यक्रम लोककला रूपों की अभिव्यक्ति क्षमता का भरपूर रूप से फायदा उठाते हुए उनको मनमाने ढंग से प्रस्तुत कर रहे है। वे दर्शक समाज की मनोरचना में गहरे अंकित लोकस्मृतियों का इस्तेमाल कर उसे मनमानी दिशा में मोड़ देते है। इस प्रकार ये माध्यम पूंजीवादी हितों को ध्यान में रखते हुए जनता की कला का उसके ही खिलाफ इस्तेमाल कर ले जाते है।

पतन की तरफ जाते हमारे लोक नाट्यों को फिर से गतिशील बनाने में रंगमंच–संस्थान एवं अकादमियॉ भी ठीक–ठीक भूमिका निभाने में असमर्थ है। सरकार भी मध्यम वर्ग के हितों की प्रतिनिधि होने के कारण लोक संस्कृति के तत्वों का पुरातात्विक ढंग से संग्रह तो करती हैं किन्तु उसकी गति और जीवन्तता के पुनराविष्कार की दृष्टि उसमें नहीं है। अतः शासकीय संरक्षण या अनुदान में इन कला रूपों के लिए संभावनाएं नहीं के बराबर है। सत्ताधारी वर्ग इन कलाओं के संरक्षण एवं परिवर्धन के नाम पर अनेक सांस्कृतिक परिषदों और संस्थाओं का निमार्ण करते हैं, किन्तु लोक कला रूपों के प्रति किसी सार्थक दृष्टिकोण के आभाव में ये संस्थाएं लोकशिल्प एवं लोकस्थापत्य आदि के नमूने की तरह संग्रह करती है। इन संग्रहो के मंहगे प्रदर्शन के लिए बड़े–बड़े लोक मेलो या लोकोत्सवों का प्रबन्ध किया जाता हैं, जिनमें पेप्सी और कुरकुरों की आनन्द लेते हुए ग्राहक मानसिकता से भरी हुई भीड़ इस शिवर से उस शिवर तक टहलती रहती है। लोककलाओं से अपरिचित होने के कारण उनमें कला के लिए कोई स्थायी आकर्षण, लम्बी स्मृति या तड़प नहीं होती ये तत्व उनके लिए अपनी चीज जैसे आत्मीय नहीं होते।

1960 के आस–पास हिन्दी रंगमंच की नेहरूवियन विजन के विरोध स्वरूप कुछ नाट्यप्रयोगियों का ध्यान लोकनाट्यों की तरफ गया। संगीत नाटक अकादमी एवं भारत सरकार द्वारा समय–समय पर लोकनाट्यो के उत्थान के लिए आर्थिक सहयोग किया जाने लगा, और लोक कलाकारों को विभिन्न अलंकारों से विभूषित किया जाने लगा लोकनाट्यो के दस्तावेजीकरण एवं वृतचित्रों द्वारा संरक्षण में संगीत नाटक अकादमी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। किन्तु पिछले कुछ सालो में लगता है कि ये अकादमियॉ भी अपने लक्ष्य से भटक गई है। आज उनका मकसद केवल कला का संरक्षण करना रह गया है न कि कलाकार का। वे भूल गए है कि कलाकार को बचाए बिना कला को

बचाना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन भी है। कलाकार अगर नहीं रहेगा तो हमारी कलाए दस्तावेजों एवं वृतचित्रो में ही सिमट कर रह जाएगी। संगीत नाटक अकादमी की कुछ शर्तें हैं कि आर्थिक सहयोग के लिए किसी भी स्वॉग मंडली का कम से कम पॉच साल से पंजीकरण होना आवश्यक है। इससे क्या होता है कि जो स्वॉग मंडली आर्थिक सामाजिक रूप से पहले से सम्पन्न है। संगीत नाटक अकादमी की पहुंच भी सिर्फ उन्हीं मंडलियों तक ही है। मिलेगी। किन्तु ऐसी मंडलियों के अलावा हरियाणा में स्वॉगी का एक बड़ा हिस्सा आज भी सक्रिय है जो अपनी रोजी–रोटी के लिए जूझ रहा है। किसी भी प्रकार के सरकारी अनुदान या आर्थिक सहयोग से वे मंडलियॉ वंचित ही रही है।

अकादमी का दूसरा तरीका यह कि वह ज्यादातर लोकनाट्यों के दस्तेवाजीकरण एवं वृतचित्रो को तैयार करने के लिए सालों से स्थापित मंडली को बुलाकर दिल्ली के किसी बड़े सभागार में बड़े ताम– झाम के साथ बहुत ही आकर्षक तामझाम के साथ उनके छायाचित्र एवं वृतचित्र तैयार किये जाते है। असल में हम लोकनाट्यों की जिस जीवन्तता की एवं दर्शक–प्रदर्शक की मिली जुली सहभागिता की बात करते हैं, क्या वह जीवन्तता, वह खुरदरापन उन छायाचित्रों में या वृतचित्रों में कहीं झलकता है। अतः आज अकादमी को जरूरत है उस क्षेत्र में जाकर कला एवं कलाकार दानों से रिश्ता बनाने की अन्यथा प्रयास सिर्फ 'शो पीस' या प्रदर्शनीयॉ बनकर रह जाएगी और इस प्रक्रिया को व्यावसाय का रूप लेने में देर नहीं लगेगी। अब तक हरियाणा की एक स्वॉग मंडली का ही नाम जानकारी में आता है। जिसे अकादमी की तरफ से आर्थिक सहयोग या 'अवार्ड' से नवाजा गया है। वह है पं. तुले राम की मंडली, 1969 में अकादमी के संपर्क में आई।

SWANG
TULE RAM

Pandit Tule Ram receives the Sangeet Natak Akademi Award fo| his contribution to Swang.

Born in 1939 in the village of Jattikalan, Haryana, Pandit Tule Ram was trained in Swang, the folk theatre of the region, by Pandit Man Singh of Sonepat district. He spent his formative years in the company of folk singers and entertainers establish his own Swang group while still quite young.

Pandit Tule Ram has been practicing Swang for over 30 years, and has led his group in numerous performances all over northern India. He has performed less often in other parts of the country. By his long service to Swang, Pnadit Tule Ram has played an important role in the propagation of the folk theatre of Haryana.

स्वॉग आलेख –कंवर निहालदे

पुराने समय की बात है कि कीचागढ़ शहर में राजा 'चकवै बैन' राज्य करते थे। उनके पुत्र का नाम था 'मैन पाल' जो भरपूर यौवन काल में स्वर्ग सिधार गया। उस समय उसकी एक सन्तान थी, जिसका नाम था ' सुलतान' । आज भी सावन के दिनों में इस प्रदेश की स्त्रियॉ नर –'सुलतान' और 'कंवर निहालदे' संबंधी गीत मस्ती में झूम–झूम कर गाती है।

सुलतान का पालन–पोषण उस के दादा चकवे बैन ने किया। जब वह कुछ बड़ा हुआ तब उसकी शिक्षा–दीक्षा का प्रबन्ध किया गया। सुलतान को निशाना लगाने का बहुत शौक था। वह नगर के कुंए के पास जा बैठता, और जब पनिहारियॉ पानी लेकर लौटती तब वह अपने बाण से दोघड़ को निशाना बनाता। दोघड़ फूट जाती और पानी बिखर जाता। पनिहारियॉ सुलतान की शिकायत लेकर राजद्वार पहुंची। चकवे बैन ने पूरी घटना सुन कर उन्हें ताबें और पीतल की गागरें दिलवा दी।

सुलतान को जब यह पता चला तो उसने अपने बाणों के सामने भारी लोहे के फलक लगवा लिये और तब उन गागरों को भी उसी प्रकार निशाना बनाने लगा। पनिहारियां बेचारी फिर दरबार में शिकायत लेकर पहुंची और तब चकवे बैन ने अपने मंत्री से मंत्रणा की, और नगर के द्वार पर सुलतान के नाम आज्ञा–पत्र लिख कर लगवा दिया।

सुलतान जब लौट कर नगर की ओर आया तो आज्ञा–पत्र देखकर स्तम्भित रह गया। उसे बारह वर्ष के लिये देश निकाला दिया गया । वह आज्ञा–पत्र पढ़ते ही महल में अपनी माता के पास पहुंचा और अपने पितामह की आज्ञा कह सुनाई। मां को सुनकर बहुत दुःख हुआ। विधवा से आज उसका पुत्र भी छीना जा रहा था। माता ने आज्ञा का विरोध करना चाहा, पर नर सुलतान ने अपनी मां को समझायाः–

मता धीरज धार ले मत हो दिल गमसीन।
विधाता के लेख मैं ना होत्ती मेख और मीन।

परवान्ना दरवाज्जे पै लाग रह्या हुक्म सरकारी का।
देश छोड़ मैं अब हो जाऊं भरणा विपत भारी का।।
मैन पाल का बेट्टा मैं सुलतान सै नाम मेरा।
दुःख मुसीबत से ना डरता यौ सै जंगी काम मेरा।।
चाहे उड़ ज्या चाम मेरा एक साथ काया सारी का।।1।।
जो कुछ लिख्या मेरे करम मैं वो सब पाया सै।
करम का लेख नहीं मिटता यौ सब नै बतलाया सै।।
बुढ़ाप्पे मैं मन भरमाया सै फल यो किस्मत म्हारी का।
दाद्दा का हुक्म सै मात्ता मैं जरूर जाऊंगा।।
तेरे चरण सिर नाऊं निभाऊं हुक्म दाद्दा प्यारे का।।2।।

माता को प्रणाम कर नर सुलतान कीचागढ़ से चल दिया। चलते चलते वह इन्द्रगढ़ पहुंचा, जहां सुलतान के पितामह का मित्र राजा कामध्वज राज्य करता था। कामध्वज ने अपने मित्र के पौत्र का स्वागत किया और सुलतान उन्हीं के पास रहने लगा। कामध्वज का पुत्र फूलसिंह सुलतान का समवयस्क था। इसलिये शीघ्र ही दोनों में गाढ़ी मित्रता हो गई, और दोनों समय समय पर आखेट के लिये जाने लगे।

एक दिन जब नर सुलतान और फूलसिंह आखेट के लिये निकले, तो उन्हें एक हिरण दिखाई पड़ा और दोनों ने अपने घोड़े उसके पीछे छोड़ दिये। भागते दौड़ते ये लोग केलागढ़ जा पहुंचे, जहां राजा मध राज्य करते थे। शिकार तो हाथ न लगा पर इस भाग–दौड़ में ये दोनों बुरी तरह थक गए, इसलिये पास ही बाग देख कर उसमें आराम करने चले गये।

सावन का महीना तीजों के दिन। ये अभी एक वृक्ष के नीचे घोड़े बांध कर बैठे ही थे, कि इनके कानों में तीजों के गीत की सुरीली धुन पड़ी। सुलतान ने उस स्वर लहरी का पीछा किया तो क्या देखता है कि एक झुरमुट में कुछ सखियां मिल कर झूल रही हैं।

वह देखते ही अपनी सुध–बुध खो बैठा। खोता भी कैसे नहीं ? कवि के शब्दों में उनका रूप ही इस प्रकार का थाः–

सारी झूल्लण लाग्गी सखी एक साथ मिल कै
मद जोब्बन का पलका लाग्गै, आपस मैं मिल कै।
ऐसा रूप दिया बे मात्ता नै, कर दिया चाला।
जो कोई माणस देख ले, हो ज्या जान का गाला।
लड़ ज्या एक दम नाग काला, उस माणस के दिल कै।।
गीत मल्हार गाण लाग रही, कही ना कुछ जात्ती,
एक बार रूप देख्यां सै सखी, ठंडी हो ज्या छात्ती।
ब्याही सखी मार रही गाती, झूल्लैं जाण् हवा रज कै।।
बिजली सा पलका लाग रह्या, शान भोली भाली।
आज झूल रही बाग मैं, हूरां कैसी टोल्ली।
लग जा बदन मैं कस कै गोली, अपने मन मैं जल कै।।
प्रहलाद शर्मा कहै शान गजब की, मन्नै मारै थी।
अदा कसूत्ती माणस मारण, जादू डारै थी।
सब दुख नै टारै थी, जण, दूध छलकै।

नर सुलतान एक टक खड़ा देखता रहा कि तभी बूंदा–बांदी ने वर्षा का रूप धारा और सभी सहेलियां वहां से भाग खड़ी हुई। पर उनमें जो राजकुमारी सी प्रतीत हो रही थी, वह पीछे रह गई। वास्तव में उसकी दृष्टि सुलतान पर जा पड़ी थी और वह भी उसे देखती रह गई थी। एकांत देख दोनों का वहां मिलन हुआ। सुलतान ने उस रूपसी का परिचय पूछा तो पता चला, कि वह वहां की राजकुमारी 'निहालदे' है और अभी कंवारी है। दोनों परस्पर एक–दूसरे को वचन देते है और तब राजकुमारी महल में चली जाती है, और नर सुलतान अपने मित्र के साथ इन्द्रगढ़ को।

इन्द्रगढ़ पहुंच कर सुलतान ने राजा कामध्वज को निहालदे से अपने विवाह के निश्चय की बात सुनाई । कामध्वज ने सुलतान को आश्वासन दिलाया और केलागढ़ के

राजा से मिल कर विवाह प्रस्ताव रखा। मघराजा नर सुलतान का परिचय पाकर अति प्रसन्न हुआ पर दूसरे ही क्षण उसका चेहरा उतर गया। कामध्वज ने जब कारण पूछा तो पता चला कि उसके राज्य को हानि पहुंचाने वाला कोई राक्षस रहता है जो उसकी प्रजा को बहुत तंग करता है। इसलिये उनकी पूर्व–प्रतिज्ञा है कि जो उस राक्षस को मारेगा वही निहालदे को पाएगा।

कामध्वज इस प्रस्ताव को सुन कर चिन्तित हो उठे और वापस लौट आए। नर सुलतान देखते ही भाप गया और राजा की उदासी का कारण पूछा। राजा कामध्वज ने बता दिया कि राक्षस बहुत प्रबल है इसलिए यह कार्य खतरे से खाली नहीं। राजा कामध्वज मघ राजा के इस प्रण से कुछ चिढ़ से गये थे इसलिये सुलतान के सामने उनके मुंह से निकला :–

निहालदे मनै देखी थी वा, नूर मैं भर री सै।
शान शक्ल की आच्छी दीखै, खुल्ली चर री सै।
जोब्बन मैं वा चूर हो रही, अंघाई कर री सै।।
शाद्दी अब तक करी नहीं क्यूं बिन ब्याह् यां सर री सै।
के राजा की मति हर री सै, इसा भारी प्रण डार कै।।

पर जब नर सुलतान ने प्रण सुना तो वह अपना भाग्य आजमाने को तैयार हो गया। कामध्वज ने उसे तैयार देख कर राजकुमार फूल सिंह को कुछ सैनिक साथ देकर सुलतान की सहायता के लिए भेजा। किन्तु जब ये लोग राक्षस को देखते है तब मारे भय के मैदान छोड़कर भाग खड़े होते है। वहां अकेला नर सुलतान रह जाता है और दोनों का भयंकर युद्ध होता है। किन्तु अंत में सुलतान ने द्वन्द्व युद्ध में राक्षस को मार गिराया। राज्य भर में खुशियां मनाई जाने लगी। धूमधाम से दोनों का विवाह हुआ और निहालदे विदा हो कर सुलतान के साथ चलने को तैयार हुई तो सखियों ने आंखों में जल भर कर उसे सीख दी :–

सारी सखी खेलती खाती जब तक थी कंवारी।
साथ पति कै चाल पड़ी पाट्टी म्हारै तै न्यारी।।
सास ससुर सै मात पिता सम बड़े का कायदा हो।
पति की सेवा टहल करिए ना बात बेफायदा हो।।
पति से पीछै भोजन पाइए चाहे बख्त किमे ज्यादा हो।
बात सहज मैं करिए सब सै नरमी का माद्दा हो।।
सखी तू कृषण की राधा हो यो सै अरदास हमारी।
तेरै सै सखी तेरी जिठाणी द्योराणी भी जलैंगी।।
पति तेरा जिब घर ना होगा ऊधम जरूर करैंगी।
अपणे मन मैं नारी हो कै किसी से नहीं डरैंगी।।
एक दूसरी सै सारी आपस में लड़ मरैंगी।
इसका वो फल भरैंगी तू ना करिए हंसी ख्वारी।।

सखियों की बात सुनकर निहालदे के नेत्र डबडबा आए। उसने सहेलियों को सम्बोधित करते हुए कहा :–

जल्दी कर कै मंगा लियो, मनै रो रो मर ज्यांगी।
जो न आवै लेण मनै मैं इकली डर ज्यांगी।।
सदा थारै मैं खेल्ली खाई ना देख्या दूसरा द्वार।
न्यारी पाट आई थारे तै मनै ले चाल्या भरतार।।
सही सै इश्क की मार उड़ै अपनी राजी कर ज्यांगी।
राम राम ले ल्यो थम मेरी सारी सखी भोली।।
गलती करियो माफ सखी थम सौ मेरी हमजोली।
जाणै अब कद सुणूं थारी बोल्ली,
थारै बिना मन मैं जर ज्यांगी।
बाग्गां का एक साथ झूलणा मनै भी याद आवैगा।
जब इकली बैठठी रहूंगी सखी थारा विरह सतावैगा।।

मनै खाना नहीं भावैगा क्यूं पहल्लम कै घर ज्यांगी।

सखियों के बिरह की कल्पना से कातर निहालदे अपनी सखियों से गले मिली और अपने पति नर सुलतान के साथ इन्द्रगढ़ को चल दी। इन्द्रगढ़ में राजा कामध्वज ने भी इस विवाह के उपलक्ष में खूब धूम धाम की थी। जब डोली महल के द्वार पर पहुंची तब राज परिवार तथा अन्य स्त्रियॉ निहालदे को डोले से उतारने आई। इस समय का उन स्त्रियों का वर्णन कवि के शब्दों में पठनीय है :–

सारी लुगाई कट्ठी होगी महल्लां मै आ आ कै।
नई बहू नै तारण चाल्ली गीत गा गा कै।।
सारी बीर सिंगार कर रही दीखै शान निराल्ली।
कोई कोई तो रमझोल पहल रही, कोई झांझण वाली।
पीठ कै उप्पर लटकै चोट्टी जाणै नाग्गण काली।
आंख साफ कटोरी सी दीखैं जाणै रफल दुनाली।।
गीतां मैं वो काढ़ै गाली झौंक्के खा खा कै।
गीतां की बोल्यां रौणक हो रही सारे इन्दरपुर मैं।।
कोई कोई तौ मखां आग्गै बोल्लै कोई कोई बोल्लै सुर मैं।
सारी बीर साथ चाल री एक कै एक धुर मैं।।
बांक्की अदा माणस मारण घाव करैं थी उर मैं।
ज्यों सवाल बैठ ज्या गुर मैं, चाल्लैं कदम ठा ठा कै।।

यह तो था उन स्त्रियों का वर्णन जो निहालदे को डोले से उतारने आई थी। अब कंवर निहालदे का वर्णन सुनिये :–

डोलै धोरै पहुंच गई गीत गावती सारी।
बिजली सा लाग्या पलका देख अदा बहू की न्यारी।।

बहू का घूंघट ठा ठा देखैं खड़ी खड़ी सब नारी।
डोला मां सै उतारण की कर लई फेर त्यारी।।
चलै रूप की पिचकारी मुंह जब देखैं जा जा कै।
प्रहलाद शर्मा कहै बसई वाला चाला कट रह् या सै।।
रूप का त्यौहार बहू जणु बाद्दल फट रह् या सै।
बहू की शान देख मेरा मन ब्रह्म तै हट रह् या सै।।
मेरे नहीं बदन मैं ज्यान खून मेरा सारा घट रह्या सै।
काम बदन मैं डट रह् या सै जोब्बन मैं छा छा कै।।

कंवर निहालदे को पाकर नर सुलतान फूला न समाया पर अभी बुरे दिन समाप्त न हुए थे। एक दिन फूल सिंह ने निहालदे को महल में देख लिया और जी जान से उस पर मर मिटा। फूल सिंह ने निश्चय किया कि वह सुलतान को रास्ते से हटा कर निहालदे पर अपना अधिकार कर लेगा। वह दूसरे ही दिन सुलतान को साथ लेकर आखेट के लिये गया और एकांत पाकर उसने सुलतान पर बाण चलाया। पर 'जा को राखे साइयां मार सकै न कोय' वाली बात सत्य सिद्ध हुई। निशाना चूक गया और तब तक सुलतान सचेत हो गया। सुलतान को इस से फूल सिंह की दुरभिसंधि का ज्ञान हो गया और उसने इन्द्रगढ़ छोड़ने का निश्चय कर लिया।

सुलतान ने निहालदे से अपने पिता के घर जाकर रहने की बात चलाई और अपने देश निकाले की भी चर्चा की। बहुत कहने–सुनने पर निहालदे इस शर्त पर अपने पिता के घर जाने को तैयार हो गई कि ' देश निकाले के दिन पूरे होते ही तीजों के दिन वह उसके पास अवश्य लौट आएगा। यदि उस दिन शाम तक वह नहीं लौटा तो निहालदे अग्नि में प्रवेश कर अपने प्राण दे देगी।' निहालदे अपने पिता के घर चली गई और सुलतान इन्द्रगढ़ से आगे चल दिया।

नर सुलतान अपने भाग्य के बारे में सोचता, घूमता–फिरता नरवरगढ़ की ओर जा निकला, जहां राजा ढोल राज्य करता था। उसकी रानी का नाम था 'मरवण', जो सिंघल दीप के राजा बुद्ध सिंह की लड़की थी। नर सुलतान घोड़े पर सवार जैसे ही मरवण के

महल के नीचे से निकला, वह उसे देख मोहित हो गई। उसने महल के ऊपर से आवाज दी 'रे भाई घुड़ सवार! नौकरी करोगे क्या ? नर सुलतान ने ऊपर की ओर देख और उत्तर दिया, 'हां, करेंगे पर इस शर्त पर कि मैं तुम्हारा भाई हूंगा और तुम मेरी बहन।' मरवण का ध्यान अपने शब्दों पर गया और हृदय सहसा पवित्र हो गया। नर सुलतान भाई बन कर मरवण के पास रहने लगा। मरवण के पूछने पर उसने अपना परिचय दिया :–

ना माता कोई बाप है ना भाई कोई बहन।
अम्बर मां तौ आ गिर्‌या धरती कर लिया सहन।।
के बता घ्यूं तनै कित कासूं रहने वाला।
मेरी बात्तां नै सुण सकै तू आप करैगी चाला।।
कदें तो मैं राज कुंवर था कीचागढ़ का भैणा।
करमां के चक्कर सैं पड़ता सब नै दुख सहणा।।
राम जिसा राक्खै रहणा लगा म्हारे करम का ताला।
ब्याह शाद्दी मेरी हुई नही ना किसी के साथ असनाई।
प्रेम कर्‌या ना कदें किसी से ना कोई बीर ब्याही।
सारी तनै सांच बताई जपी ना मैं राम नाम की माला।।
छतरी धरम से टरे नहीं वैसे कर जात्ते मरणे।
तेरा सहारा लिया बहण मैं आग्या तेरे शरणे।
करम के लेख पड़ते भरने नाग लड़ज्या सै काला।।

नर सुलतान मरवण के पास रहने लगा। उसकी सुरक्षा का भार सुलतान पर था। इसी प्रकार रहते रहते उसे काफी समय बीत गया और राजाढोल को धीरे–धीरे संदेह होने लगा कि ये दोनों भाई बहन का ढौंग रच रहे हैं, पर उसकी हिम्मत न होती थी कि रानी से कुछ कहे। इधर भूम सिंह और धूम सिंह दो बनजारे मरवण का अपहरण करने की नीयत से नरवरगढ़ में आए और अवसर की ताक में रहने लगे। एक दिन जब मरवण बावड़ी में स्नान करने गई तब बनजारों ने उसको आ घेरा। मरवण ने सहायता के लिये

चीख पुकार की तो वहां सिवा सुलतान के और कोई न था। सुलतान तुरंत सहायता के लिये आ पहुंचा। बनजारों में नर सुलतान अपनी खड्ग इस प्रकार घुमाने लगा जैसे किसान खेत में दरान्ती। कुछ बनजारें मारे गये और शेष मैदान छोड़ कर भाग खड़े हुए। मरवण कुशलपूर्वक महल को लौट आई।

उन्हीं दिनो देश निकाले का समय समाप्त होने जा रहा था। कंवर निहालदे बड़ी बेचैनी से सुलतान की राह ताक रही थी पर उस का कहीं कुछ पता न चल रहा था। एक दिन बांदी भागी भागी आई और उसने आकर बताया कि कुछ बनजारे नर सुलतान की वीरता की चर्चा करते जा रहे है। निहालदे ने उन बनजारों को महल में बुला भेजा। उनसे पता चला कि ' सुलतान नरवरगढ़ की रानी मरवण के प्रेम में फंसा अपने दिन काट रहा है। बनजारों से इतनी बात सुन कर निहालदे के शरीर में आग सी लग गई। उसने उसी समय मरवण के नाम पत्र भेजा जिस में अपने पति को वश में करके रखने की शिकायत थी। उसने लिखा :–

मेरा पति तनै मोह लिया बना कै सारी भोली।
तनै मैं भली समझूं थी तू निकली गजब की गोली।।
भाई बहन का नात्ता कर कै प्यार कर री सै।
आशिक दिलोजाना से हो कै उस पै मर री सै।।
जव्वानी मैं तू पागल होगी अक्कल तेरी हर री सै।
भाण बण कै तू काम काढ़ री हरि सै ना डर री सै।।
तू बदी से नॉ टलरी सै नाग्गण तू पति मेरे नै मोह री।
अपने पति नै छोड़ कै तै मेरे पीछे पड़गी।।
तेरी कसूत्ती चाल यो सीने मेरे मैं गड़गी।
मेरा ख्याल कर्या ना तनै बुद्धि तेरी हड़गी।।
जौब्बन तेरा इसा लाग्गै जणु पकी नरंगी सड़गी।
मेरे दिल मैं बात यौ बड़गी तै बुरी करी हमजौली।।
जिसा कर्या तनै मेरे साथ मैं सै मनै इस का खेद।

भाई भाण का नात्ता कर कै राख्या इस का भेद।।
तीज्जां के दिन भेजिये तू सै मनै पूरी उम्मेद।
नहीं आवै तो जलूं चिता मैं सोच कही सै बेद।।
दीखै उसकी बात का भेद अब तक बहुत घणी सो ली।

भाट के हाथ निहालदे ने पत्र नरवरगढ़ में मरवण के पास भेज दिया। जैसे मरवण ने यह पत्र पढ़ा उसने सुलतान को बुला कर सब वृत्तांत पूछा। सुलतान ने कहा– 'बहुत पुरानी बात है, जिसे मैं कभी का भूल चुका हूं।' पर मरवण ने जोर दिया और उसे यथा संभव शीघ्र निहालदे के पास पहुंचने के लिए कहा। सुलतान बहुत सा धन साथ लेकर विदा हो, वहां से चल दिया।

जब वह चला जा रहा था तो रास्ते में एक नगर पड़ा, जहां उसे एक महाजन की लड़की चन्दन कौर ने देख लिया, और मोहित होकर विवाह का प्रस्ताव रखा। जिसे सुलतान ने ठुकरा दिया। चन्दन कौर को उस बहुत क्रोध आया और उसने चार चोरों को उसके पीछे भेजा ताकि उसे रास्ते में समाप्त कर दें। उचित अवसर देख कर उन चारों ने नर सुलतान पर आक्रमण किया पर तलवार के धनी नर सुलतान के सामने उनकी एक न चली। इस युद्ध में तीन चोर काम आए और चौथा उसका मित्र हो गया। इस चौथे का नाम था 'जानी चोर' जिसका नर सुलतान के जीवन से इसके बाद गहरा संबंध रहा है। इसी रगड़ झगड़ में सुलतान को पहुंचने में देर हुई। वह थक भी गया था, इसलिये आराम करने एक वृक्ष के नीचे लेट गया।

अभी उसे लेटे अधिक देर न हुई थी कि वृक्ष पर बैठे कौए के मुंह से एक अंगुठी छूट कर उस के सामने आ गिरी। सुलतान ने उसे उठा कर देखा तो वह पहचान गया। वह समझ गया कि निहालदे अब इस संसार में नहीं है। वह उसी समय घोड़े पर सवार होकर केलागढ़ की ओर सरपट चल दिया।

तीजों का दिन था। निहालदे बाट देख देख कर थक गई थी। उसने समझ लिया कि उसका प्रियतम मरवण के प्रेम में फंस गया है और अब वह कभी न लौटेगा। उसने अपने सब अलंकार अचारज को दान कर दिये। भाग्य से उस समय कहीं अगूंठी नीचे

गिर गई और उसे अवसर पाकर कौआ ले भागा। निहालदे ने बाग में अपनी चिता तैयार की और माता--पिता तथा सहेलियों को रोते धोते छोड़ चिता में प्रवेश की तैयारी की। उसने अपनी सहेली से कहाः--

चिता त्यार अब हो गई हे सच्चे करतार।
वादा भी जा सै टल्या, नहीं आया भरतार।।
नहीं आया भरतार सखी अब चल कै चिता मैं मरूंगी।
उसने तो बात नहीं मान्नी मैं प्रण को पूरा करूंगी।।
या तो अभी आ जाए नहीं दिल मैं नहीं डरूंगी।
चिता धधकती त्यार देख इसमें अभी जलूंगी।
सुन सखी सियाणी हुई करमां की हानि
ना पति नै बात मेरी मान्नी।
चिता मैं जल कै अमी सखी मैं खत्म करूं जिन्दगान्नी।।

और निहालदे चिता में जा बैठी। उसने अपने हाथों चिता में अग्नि दिखाई और देखते ही देखते वह धधक उठी। पर उसी क्षण एक ओर से घोड़े की टाप सुनाई पड़ी। सब के कान उस ओर लग गये। नर सुलतान का घोड़ा सहसा चिता के पास आकर रूका और सुलतान उस पर से कूद पड़ा। उसने जलती चिता से कंवर निहालदे को हाथ से पकड़ कर खेंच लिया और इतने दिनों के बाद दो प्रेमियों का फिर मिलन हुआ।

देश निकाले का समय समाप्त हो चुका था, इसलिये वह निहालदे को साथ ले केलागढ़ से विदा हो अपने घर की ओर चल दिया। नर सुलतान को लौटे देख कीचागढ़ में खुशियां मनाई जाने लगी। चकवे बैन और सुलतान की माता उन्हें देख फूले न समाए

छायाचित्र

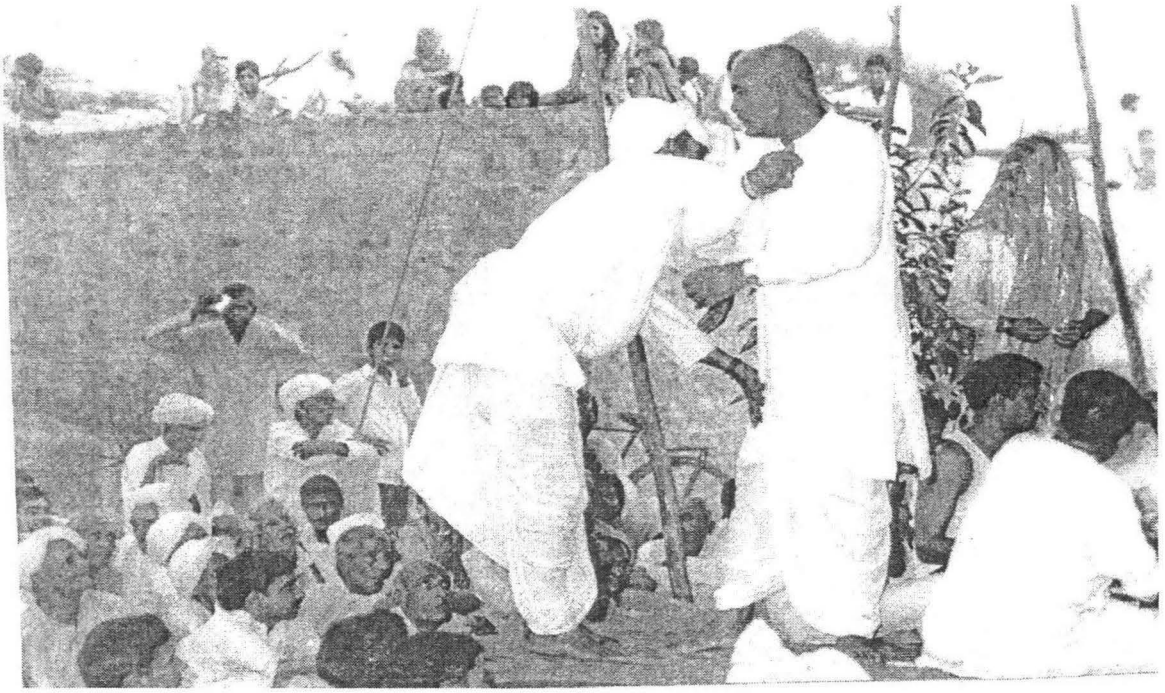

1. स्वॉग प्रमुख पं. तुलेराम अभिनय करते हुए।

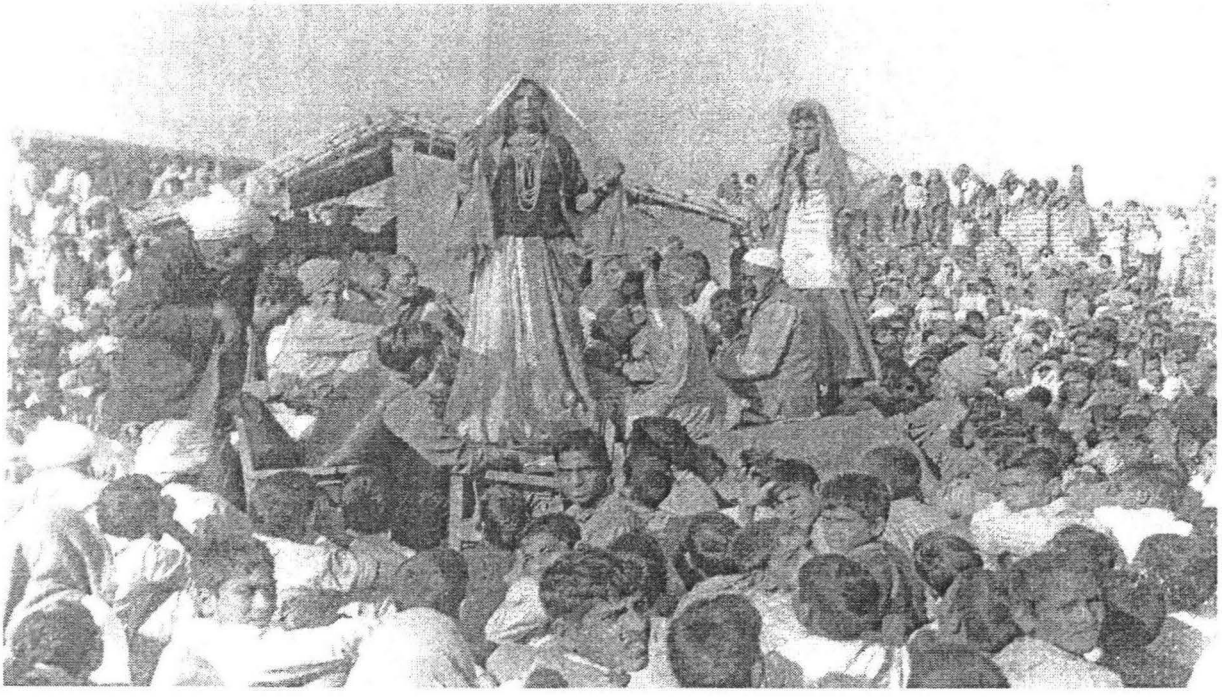

2. भारी संख्या में स्वॉग का आनन्द लेते दर्शकगण।

3. स्त्री वेशभूषा में सांगीयों के साथ स्वॉग प्रमुख।

4. स्वॉग का खुले रंगमंच के तौर पर एक अद्भुत नजारा।

5. स्वॉग में संगीत देते साजिन्दें।

6. मुख्य भूमिका में अभिनय करता स्वॉग प्रमुख।

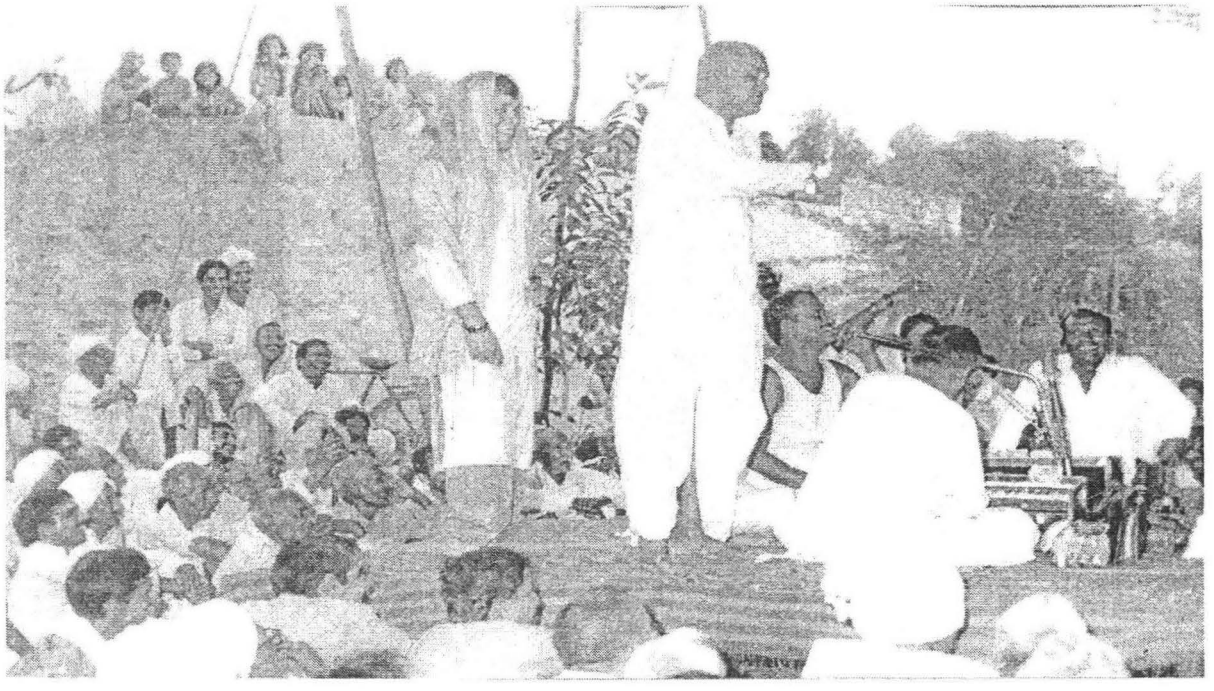

7. चलते प्रदर्शन में धूम्रपान का आनन्द लेते साजिन्दे।

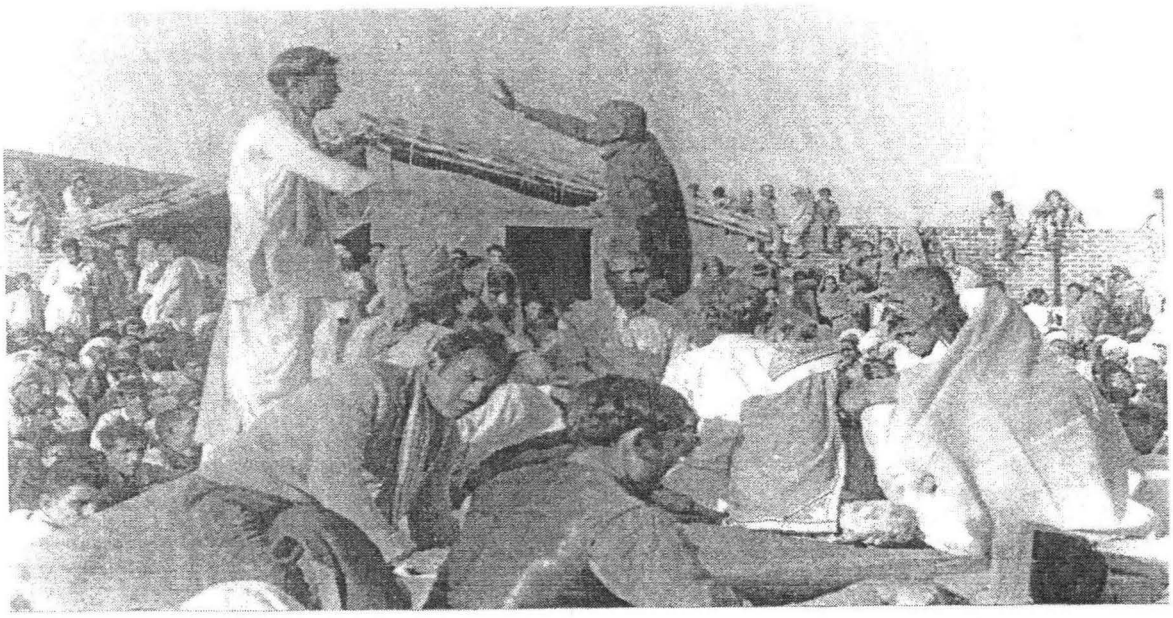

8. दर्शकों को वार्ता द्वारा संबोधित करते हुए अभिनेता।

9. स्वॉग में दर्शक–प्रदर्शक का मिला–जुला स्वरूप।

10. संगीत नाटक आकादमी द्वारा दिल्ली में आयोजित स्वॉग प्रस्तुति।

11. स्वॉग में श्रृंगारिक भाव–भंगिमाएं।

निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध में हमने स्वॉग के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया। जिससे ज्ञात होता है कि किसी भी कला का सौंदर्यशास्त्रीय पक्ष एवं उसकी कलात्मक पक्ष उसके समाजशास्त्रीय पक्षों पर काफी हद तक निर्भर करता है। जिस प्रकार समाज में आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक धार्मिक परिस्थितियां सदैव एक जैसी नहीं रहती, उसी प्रकार कोई भी कला अपने आस–पास की परिस्थितियों से प्रभावित होकर एक जैसी नहीं रह सकती। आस पास की यही परिस्थितियां ही कलाओं में परिवर्तन की संभावनाएं पैदा करते हैं। जो कलाओं के विकास के लिए आवश्यक भी है। अगर कलाएं समय और परिस्थितियों का दामन थाम कर न चलें तो निश्चय ही कलाओं का अस्तित्व संकट में पड़ सकता है। हरियाणा का लोकनाट्य स्वॉग तो इन परिस्थितियों से बखूबी गुज़रा भी रहा है। उन्हीं परिस्थितियों के चलते सामाजिक समर्थनों एवं विरोधों से गुजरने में ही किसी वस्तु की परख एवं उन्नति निहित होती है। प्रस्तुत शोध से यह निष्कर्ष निकलता है कि आम दशक हों या रंगमंच से जुड़े लोग हो, सभी का कृत्वय बनता है कि वे बने–बनाए ढाँचों में सदियों से प्रचलित अवधारणाओं और रूढ़ियों से उपर उठकर ही अपनी दृष्टिकोण विकसित करें, कही सुनी बातों के बहाव में न बहें, और ऐतिहासिक तथ्यों का पुनः परीक्षण करे और उस दबे हुए इतिहास को खंघाल कर देखें तभी हम किसी वस्तु को सही परिप्रेक्ष्य में देख पाएंगे। उस दबे हुए इतिहास से रूबरू हो पाएंगे जो सदियों से सामने नहीं आ पाया। अतः स्वॉग की उस ऐतिहासिक प्रकिया को पुनर्परिभाषित किया जाए, ताकि उसको गतिशील बनाने में कुछ सहभागिता हो सके। चाहे स्वॉग में स्त्रियों की सहभागिता का प्रश्न हो, चाहे स्वॉग में जाति आधारित ढाँचे का प्रश्न हो, और चाहे स्वॉग में अश्लीलता का प्रश्न हो। ये तमाम प्रश्न स्वॉग संगठनात्मक ढाँचे में संशोधन की मांग करते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि स्वॉग में सामर्थ्य है। अतः उसके सामर्थ्य को मददेनजर रखते हुए संशोधन समय की जरूरत बन जाती है। बशर्ते उसकी मूल भावना प्रभावित न हो। इसलिए स्वॉग के नकारात्मक एवं सकारात्मक पक्षों को पहचानते हुए कांट–छांट करने की आवश्यकता है। इस कांट–छांट से तात्पर्य उस मानसिकता से नहीं

है जो लोक नाट्यों का शुद्धिकरण करके एवं छील–तराश के उन्हें शास्त्रीय श्रेणी में रखने को अमादा है। बल्कि यहां तात्पर्य स्वॉग को समसामयिक संबंधों से जोड़ना है, ताकि कला एवं समाज का संबंध बना रहे। किसी कला को सिर्फ महिमामंडन सदैव उसे पतन की ओर ले जाने में, तो आलोचनात्मक दृष्टि उसके विकास में सहायक सिद्ध होती है। इसलिए आलोचनात्मक दृष्टि पैदा न कर पाएं ना सही किन्तु अनावश्यक महिमामंडन से अवश्य बचना चाहिए ताकि कला का विकास न हो तो पतन भी न हो। प्रस्तुत शोध में जातिवाद फैलाना मकसद नहीं है। स्वॉग को सीना ठोक कर हमारा स्वॉग कहने वालों को वास्तविकता से रूबरू कराना मकसद है।

जात्रा जैसी अन्य नाट्य विधाएं जिस प्रकार रामलीला और रासलीला जैसे धार्मिक कर्मकांडो से निकलकर सामाजिक घटनाओं से जुड़ी, जो एक क्रांतिकारी घटना है। जबकि स्वॉग के संदर्भ में बिल्कुल विपरीत परिणम सामने आए। प्रारम्भ में स्वॉग का स्वरूप धार्मिक एवं कर्मकांडिय नहीं था, इसकी विषयवस्तु ऐतिहासिक एवं प्रेम कथाओं पर आधारित होती थी। किन्तु कालान्तर में स्वॉग पर भी यह प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। अतः स्पष्ट है कि तत्कालीन सनातनी मानसिकता के चगुंल में स्वॉग किस पकार लगातार विरोधो के बीच से गुजरकर प्रतिबंधित होता रहा और पनपता भी रहा। स्वॉग में स्त्रियों की भागीदारी कलाकारों में ही नहीं दर्शकों में भी न के बराबर है। जिसके पीछे सामन्ती मानसिकता का ही हाथ है, जो कुछ निराधार तर्कों से साबित करने की कोशिश करते हैं कि स्त्रियां शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से रंगमच के लायक ही नहीं है। इसके चलते वे लगातार स्त्रियों को रंगमंच से बेदखल करने और उन निराधार तर्कों को आधार देने में मशगूल रहते हैं। जबकि प्रस्तुत शोध से निष्कर्ष निकलता है कि स्त्रियां पुरुषों के मुकाबले प्रकृति के अधिक करीब होती है, इसलिए वे कला के भी करीब होती है, स्त्रियों में प्रकृति एवं कला के प्रति लगाव, संवेदनशीलता एवं आध्यात्मिक आदान–प्रदान पुरुषों के मुकाबले कहीं ज्यादा होता है। इसलिए स्त्रियों जीवन के भी अधिक करीब होती है। अर्थात स्त्रियों एवं पुरुषों दोनों की बराबर की भागीदारी के बिना किसी भी कला का विकास संभव नहीं है।

वर्तमान दौर में लोक नाट्य एक सजावट की सामग्री बन गए हैं। जिनका कोई भी मनचाहे ढंग से और व्यावसायिक उददेश्य से इस्तेमाल कर रहा है। जिसमें लोक नाट्यों द्वारा निर्मित सजावट तो झलकती है किन्तु लोक कला एवं लोक कलाकार दोनों ही लगभग लापता होते हैं। इसलिए आधुनिक रंगकर्मियों को सिर्फ व्यावसायिक उददेश्य के लिए लोक नाट्यों के अन्धाधुन्ध प्रयोग से बचना चाहिए।

स्वॉग के संरक्षण के लिए संस्थानों एवं अकादमियों को भी उसके विशिष्ट तन्त्र को समझने के लिए ज़मीनी एवं बुनियादी प्रयास करने की जरूरत है। मात्र दस्तावेजीकरण एवं वृतचित्रों से कला का रूप तो बच सकता है आने वाली पीढ़ियों को दिखाने के लिए, किन्तु कला एवं कलाकार को बचा पाना मुश्किल है।

संदर्भ ग्रंथ सूची (Bibliography)

लोक नाट्य सम्बन्धित पुस्तकें:–

1 राजाराम शास्त्री, हरियाणा का लोकमंच, हरियाणा लोक सम्पर्क विभाग

2 पूर्ण चन्द शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परम्परा, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़– 1983

3 ए. अच्युतन, लोक नाट्य एवं संस्कृति, शब्द संसार प्रकाशन, महालक्ष्मी इन्कलेव करावल नगर, नई दिल्ली.1994–2004

4 सन्तराम विमल देशमुख, लोक नाट्य परम्परा एवं प्रयोग, नीरज बुक सेंटर, सी–32, आर्या नगर सोसाइटी, पड़पड़गंज दिल्ली–110092, 2007

5 राम नारायण अग्रवाल, संगीत एक लोक नाट्य परम्परा, राजपाल एन्ड सन्स, कश्मीरी गेट– दिल्ली–1976

6 इन्द्र वारिज शर्मा, लोक नाट्य स्वॉग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली– 10001, 1995

7 परमानंद बंसल, हिमाचली लोक नाट्य धाज्जा, हिमाचली कला संस्कृति भाषा अकादमी शिमला– 2000

8 इन्दुजा अवस्थी, राम लीला परम्परा और भौलिया, राधा कृष्ण प्रकाशन, 2 अंसारी रोड़, दरिया गंज नई दिल्ली–110002–1979

9 महेन्द्र भानावत, लोक रंग, अनुसंधान विभाग, भारतीय लोक कला मण्डल उदयपुर राजस्थान–(1971)

10 रेखा दास, बहार के लोक नाट्यों की प्रमुख भौलियों का विवेचन, सन्मार्ग प्रकाशन 16– यू बी बैंगलो रोड जवाहर नगर दिल्ली– 110007– 1994

11 गवरी लोक नाट्य भानावत, उद्भव और विकास, भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर, राजस्थान, 1970

12 सोहन दान चरण, राजस्थानी लोक नाट्य

13 रोशन त़की, लखनऊ की भांड परम्परा, विश्व प्रकाशन 4835/24 अंसारी रोड़, दरिया गंज नई दिल्ली – 110002 (1993)

14 देवीलाल सामर, भारतीय लोक नाट्यः वस्तु और शिल्प, भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर, राजस्थान
15 पद्यारानी सुश्री, नाटक, चित्रपट और समाज, राकेश प्रकाशन गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, 1966
16 रेवती रमण शर्मा, ख्याल अलीबख्श, आदिवासी लोक कला परिशद, मध्य प्रदेश, 2001
17 हरीश देवनाणी, सिन्धी लोक नाट्य परम्परा, संगीत नाटक अकादमी, राजस्थान, 2004
18 एम.आर ठाकुर, हिमाचल के लोक नाट्य और लोकनुरंजन ,पुस्तक भंडार हिमाचल प्रदेश, 1981
19 वसन्त यामदग्नि, रासलीला तथा रासानुकरण विकास, संगीत नाटक अकादमी नई दिल्ली, 1980
20 भयाम नारायण पाण्डेय, ब्रजलीलाः स्त्रोत और सिद्धान्त, पुस्तक संस्थान गांधी नगर, कानपुर ,1980
21 लक्ष्मीनारायण भारद्वाज, रंगमंच लोकधर्मी– नाट्य धर्मी, के.एल. पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद, 1992
22 कपिला वात्सयायन, पारम्परिक भारतीय रंगमंचः अनंत धाराएं, नेशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली, 1995
23 ज्ञानवती बैद मेहता, लोक नाट्यों में संगीत, ज्ञानवती बैद मेहता प्रकाशन, जयपुर ,2003
24 देवी लाल सामर , लोक कला निबंन्धावली ,भारतीय लोक कला मंडल, उद्यपुर ,1966।
25 देवीलाल सामरः– लोककला निबन्धावली – 8
26 जयदेव तनेजाः– आधुनिक भारतीय रंग – परिदृश्य, पृष्ठ – 201
27 जयदेव तनेजाः– रंग साक्षात्कार, पृष्ठ – 150
28 इन्द्र शर्मा 'वारिज':– लोक नाट्यस्वॉग, पृष्ठ – 90
29 वेद व्यास :– लोकायन का यर्थाथ : पता नहीं कब गॉव गये थे, मड़ई, 2006, पृष्ठ – 12
30 देवीलाल सामर– लोकनाट्य के विविध रूप, धरोहर, पृष्ठ – 137
31 डॉ. वशिष्ठनारायण त्रिपाठी – भारतीय लोकनाट्य, पृष्ठ – 15
32 ज्ञानवती बैद मेहता – लोकनाट्यों में संगीत, पृष्ठ – 11
33 डॉ. लक्ष्मीनारायण भारद्वाज – रंगमंच : लोकधर्मी– नाट्य धर्मी , पृष्ठ – 14
34 देवीलाल सामर – भारतीय लोकनाट्य : वस्तु और शिल्प , पृष्ठ – अ

35 सुरेश सलिल – कानपुरी नौटंकी , रंग प्रसंग , पृष्ठ – 91
36 राजा राम शास्त्री – हरियाणा का लोकमंच, हरियाणा लोक सम्पर्क प्रकाशन, 1987
37 कपिल वात्स्यान – पारंपरिक भारतीय रंगमंच
38 देवेन्द्रराज अंकुर –भारतीय नाट्य साहित्य में दलित चेतना, दलित साहित्य विशेषांक, वर्ष 30 , अंक 1 , सितम्बर–अक्टूबर 2002
39 देवेन्द्रराज अंकुर –भारतीय नाट्य साहित्य में दलित चेतना, दलित साहित्य विशेषांक, वर्ष 30 , अंक 1 , सितम्बर–अक्टूबर 2002
40 Schechner Richard, 1934
Perfomative circumstances from the avant garde to Ramlila Calcutta: Seagull Books, 1983
41 Schechner Richard, Performance Studies: An Introduction London, Routledge, 2002
42 By means of performance: Intercultural Studies of theatre and ritual. Edited by: Richard Schechner & Willa Appel
43 Turner, Victor Witter Dramas, Fields and Metaphors: Symbolic action in human society. Ithaca; London: Cornell
44 Sue-Ellen Case, Feminism & Theatre, Routledge, New York, 1988.
45 Dolan Jill, The Feminist Spectator as Critic, University of Michagan Press, 1988 .
46 Women and Society in India, Delhi: Ajanta Publications, 1987
47 Kelly, Joan, Women History and Theory (Chicago: University of Chicago Press, 1984)
48 Millett, Kale, Sexual Politics (New York, 1970)
49 Hartsock, Nancy, Money, Sex and Power: Towards a Feminist Historical materialism (New York: Long Man, 1983)
50 Fetterley, Judith, the resisting reader: A feminist Approach to

American fiction (Bloomington: Indiana University Press, 1978)

51 Chinoy, Helen Krich and Jenking Linda Walsh (eds), Women in American Theatre (New York: Crown, 1981)

52 Forte, Jeanie K., Rachel Rosenthal, Women in performance art: feminism & post modernism (Unpublished dissertation University of Washington, 1986)

53 Budapest, Z., The feminist book of lights & shadows, (vencis, Calif: the feminist wicca, 1975)

54 leavitt, Dinah Luish, feminist theatre groups (Jefferson, NC: Mcfarland, 1980)

55 wandor, Michelene: Theatre & Sexual Politics, (London Methuen, 1981)

56 डॉ. अर्चना मिश्र – परिवर्तित होता सामाजिक परिदृश्य और नारी, हिन्दी नाट्य परिदृश्यं।

दलित साहित्य

1 कृष्ण दत्त पालीवाल, उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन 2008

2 भारतीय दलित साहित्यः परिप्रेक्ष्य, सम्पादक एवं अनुवादः पुनी सिंह, कमला प्रसाद एवं राजेन्द्र शर्मा, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2003

3 कृष्ण दत्त पालीवाल, डॉ अम्बेडकरः समाज व्यवस्था और दलित साहित्य, नयी दिल्ली, किताबघर प्रकाशन, 2007

4 दलित चेतनाः साहित्य सम्पादन रमणिका गुप्ता, हजारीबाग बिहारः नव लेखन प्रकाशन, 1996

5 भारतीय साहित्य में दलित एवं स्त्री लेखन चमन लाल, पंजाबः उत्तर क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, 2001

6 दिनेश रामः दलित मुक्ति का प्रकाशन और दलित साहित्य, गाजियाबादः श्री साहित्यिक संस्थान, 2002

7 रितु गुप्त (अनुवाद) जाति प्रथा – दो निबंध, संवाद प्रकाशन , मेरठ : मुम्बई , 2008

8 ओमप्रकाश बाल्मीकि–दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्णन, नयी दिल्ली ,2001
9 दलित साहित्य विशेषांक –समकालीन साहित्य, संस्कृति, कला और विचार का मासिक, उत्तर प्रदेश , सितम्बर – अक्टूबर , 2002
10 बलवन्तराय – चरमराती सामाजिक व्यवस्था : पूर्व वैदिककाल से आज तक , भारतीय साहित्यिक एवम् सांस्कृतिक अकादमी , लखनऊ , 2002
11 रामेश्वर पवन –हरिजनः कौन और कैसे एवम् कु. मायावती की टिप्पणी , लक्ष्य संधान बहराइच उत्तर प्रदेश , 2000
12 जी. पी. बौद्ध एवम् एस. मूर्ति – आर्यनीति का भंडाफोड़ , कल्चरल पब्लिशर्स , लखनऊ, 2003
13 डॉ. भीमराव अम्बेडकर–अछूत कौन और कैसे?, अनुवाद – भदन्त आनन्द कौसल्यायन, आनन्द साहित्य सदन , अलीगढ़ , 2008
14 रामफल सिंह 'रामजी भाई'–छूआछूतः गुलामी की देन है।, भारतीय सामाजिक इतिहास संस्थान , नई दिल्ली ,
15 डॉ. अम्बेडकर – जातिभेद का उच्छेद , कल्चरल पब्लिशर्स , लखनऊ ,
16 च. एल. दुसाध –डाइवर्सिटी : हिन्दू साम्राज्यवाद के वंचितो की मुक्ति का घोषणा पत्र (मार्क्सवादीयों से एक संवाद), अम्बेडकर बुद्ध मिशन , बिहार , 2005
17 अनिता भारती –सामाजिक क्रांतिकारी गब्दूराम बाल्मीकि, दलितंत्री फाउंडेशन, दिल्ली, 2005
18 डॉ. अम्बेडकर – जातिभेद का उन्मूलन, अनुवाद – एस. एल. सागर, सागर प्रकाशन, मैनपुरी, 1996
19 जे. एन. वर्मा–क्या है पिछड़ा वर्ग ? क्षत्रिय ? वैश्य ? या फिर शूद्र ? अर्थात् ! त्रिवेनी प्रकाशन, 2001
20 सुनीत कुमार–स्वतंत्र भारत के गुलाम नागरिक, दलित टुडे, वर्ष 6, अंक 1, नवंबर 2006
21 पी. एल. पुनिया–दलित अल्पसंख्यको की भागीदारी से ही विकास सम्भव, दलित टुडे वर्ष 6 , अंक 3 व 4 , जनवरी–फरवरी 2007
22 डी. के. शील –दलित –पिछड़ो की मीडिया में उपेक्षा ,दलित टुडे , वर्ष 6, अंक 2 , दिसम्बर 2006
23 अपेक्षा –अबडेम्करवादी साहित्य का मुखपत्र, वर्ष 3, अंक 13, अक्टूबर–दिसम्बर 2005
24 मोहनदास नैमिशराम – अम्बेडकर इन इण्डिया, सामाजिक क्रान्ति , चेतना, विकास , समता को समर्पित हिन्दी मासिक, वर्ष 8 , अंक 61 , 2007

25 Gopal Guru, Confronting untouchability (Article), A Sameeksha Trust Publication, 2003, Journal Title: Economic & Political Weekly
26 Gopal Guru, Dalit from margin to margin (Article), IIC quarterly, 2002
27 S.M. Michael, Dalit in modern India: Vision & Values, New Delhi, Los Angles: Sage Publication, 2007